-:: अष्टम परिच्छेद ::-

Chapter-8

-=: अष्टम् परिच्छेद :=- Chapter-8

परमाल रासो (आल्हखंड) की भाषा :-

उत्तर भारत का लोक-विश्रुत काव्य "आल्हा" जो कि शिक्षितों के बीच आल्हखंड या "परमाल रासो" के नाम से जाना जाता है, बनाफर वीरों की अद्भुत वीरता का अमर काव्य है । ये क्षत्रिय वीर परमात्मा से अल्पायु लेकर अवतरित हुए थे और इसी अल्पायु में वीरता की अमरगाथाएँ छोड़कर शून्य तत्व में समाहित हो गए । इनका ध्येय वाक्य था—

बारह बरस लौं कूकर जीवै, औ सोलह लौं जिये सियार,
बरस अठारह क्षत्री जीवै, आगैं जीवन को धिक्कार ।(1)

और इस अल्पायु में ही इन्होंने समूचे उत्तर भारत को अपने घोड़ों की टापों से रौंद डाला । इतिहास-प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान का मान-मर्दन करने वाले इन वीरों के साहस की गाथाएँ आज भी लोकमानस को झंकृत कर रही हैं ।

इतिहास-वेत्ताओं का विचार है कि- बनाफर "बनस्पर" हूण की संतान थे । ईसा की आसपास की शताब्दियों में शक, हूण, सिदियन आदि विदेशी जातियाँ भारत में प्रवेश पाती गईं और प्रभुत्वहीन होते हुए सूर्य-चंद्रवंशी क्षत्रियों की नई-नई उपजातियों में अपना स्थान बनाती गईं ।(2) ऐसी स्थिति में संभावना यही है कि कुलीन क्षत्रियों ने इन्हें सामाजिक सम्मान प्रदान न किया हो तथा इनसे रोटी-बेटी का सम्बन्ध न रखा हो । बनाफर वीरों को अमर करनेवाला महाकवि जगनिक भी अपने पाठकों को बार-बार इस बात का स्मरण कराता रहा है । यथा— "ओछी जात बनाफर राय" परन्तु तलवार के धनी इन वीरों ने कुलीन क्षत्रिय कुमारियों का या तो अपहरण किया अथवा उनका मान-मर्दन करके विवाह संपन्न करवाया । आज भी "बनपरी" (कबरई- दक्षिण एवं महोबा पूर्व) के रूप में जाने जानी वाली बुन्देल-भूमि बनाफरों की स्मृति को जीवंत बनाए हुए है ।

आल्हा-काव्य की हस्तलिखित प्रति अब तक उपलब्ध नहीं है । बहुत कुछ संभव यह है, कि यह गाथा अन्य बहुत-सी लोकगाथाओं की तरह मौखिक ही रही हो । मूलतः कुछ भी हो, अब यह हिन्दी क्षेत्र की अमूल्य निधि है जो कि अपनी वीरता-

---

(1) आल्हखण्ड : शोध और समीक्षा - डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 213.
(2) वही : पृ. 214.

व्यंजक गाथाओं के कारण तथा उनकी आकर्षक गायनशैली के कारण बुन्देलखण्ड क्षेत्र से दूर-दूर तक प्रसारित होती गई । अब इस गाथा के अध्ययन का वैज्ञानिक आधार यही है कि लोक प्रचलित भिन्न-भिन्न रूपों को क्षेत्रीय गायकों से सुनकर संपादित किया जाए और इन सुसंपादित संस्करणों के आधार पर "आल्ह-काव्य" का पुनर्गठन किया जाय । विभिन्न क्षेत्रीय गायन-शैलियों या वर्णित घटनाओं, पात्रों एवं स्थान नाम के आधार पर भाषा सम्बन्धी समीक्षा की जा सकती है । इस गाथा के एक अंश का ऐसा ही समीक्षात्मक प्रयास श्री लोकनाथ द्विवेदी "सिलाकारी जी" के द्वारा किया गया है, जो कि हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है । उन्होंने अपनी पुस्तक- "महाकवि जगनिक कृत लोकगाथा काव्य आल्हा" के पृष्ठ सं. 197 पर "आल्हा मनौआ" (आल्हखण्ड का एक अंश) पाठ के सम्बन्ध में लिखा है कि- "चंदेरी, टीकमगढ़ और गढ़ा कोटा (सागर) के अल्हैतों (आल्हा गायकों) से मौखिक रूप से सुनकर संकलित किया है ।"(1) प्रस्तुत लेख में भाषा विश्लेषण के लिए अधिकाधिक उदाहरण इसी अंश से अवतरित किए गए हैं ।

बहुचर्चित कथन है कि सर्वप्रथम सन् 1865 (तदनुसार संवत 1922) में "सर चार्ल्स इलियट" ने इस गाथा-काव्य को आल्हा गायकों से सुनकर लिपि-बद्ध करवाया । इस सम्बन्ध में संवत् 1953 में संपादित "आल्हखंड" की भूमिका में लिखा गया है—

श्रीयुत मिस्टर सी. ई. इलियट साहब बहादुर, जो फर्रुखाबाद में बन्दोबस्त के कलेक्टर थे, प्राचीन गायकों से उन्होंने आल्हखण्ड लिखवाकर अंग्रेजी में अनुवाद करके लन्दन भेज दिया । तदनन्तर मुंशी राम स्वरूप ने साहब बहादुर को अर्जी देकर पूर्व लिखित आल्हखण्ड को संवत् 1929 में प्रथम बार छापकर प्रकाशित किया । तभी से "आल्हखण्ड" के छपने का प्रचार हुआ । इसी प्रकार कैम्प फतेहगढ़ दिलकुशा छापखाना में छपे हुए आल्हखंड को सर्वप्रथम छापने के कारण असली कहते हैं । इसके उपरान्त आल्हखंड जहाँ-जहाँ प्रकाशित हुए, उनमें किसी न किसी रूप में मतभेद पाया जाता है । बम्बई के पंडित हरिप्रसाद भगीरथ, जो कि प्राचीन और नवीन पुस्तकों के प्रकाशन में कटिबद्ध हैं, उन्हीं की आज्ञा और बड़े परिश्रम से प्राचीनतम नायकों और उनके इतिहास-ग्रंथों को देखकर संपादन किया गया ।

संपादक, पंडित नारायण प्रसाद मुकुन्दराय जी, संस्कृत और भाषा

---

(1) महाकवि जगनिक कृत - लोकगाथा काव्य आल्हा - सिलाकारी, पृ. 197.

पुस्तकालयाध्यक्ष, बाँस बरेली और लखीमपुर (अवध), चावड़ी बाजार दिल्ली से भी कई आल्हखण्ड प्रकाशित हो चुके हैं, जिसमें कौरवी, हरियाणवी का पुट अवश्य है परन्तु तेइस लड़ाइयों और बावन गढ़ विजय का जो ढांचा चार्ल्स इलियट के सामने तैयार हो गया था वही परिनिष्ठित रूप में पाया गया और यत्र-तत्र संक्षिप्त अन्तर रखते हुए आज उत्तर भारत में प्रचलित है । संपूर्ण आल्हा-गायन एक ही धुन में आबद्ध है जिसे छन्द-शास्त्रियों ने "वीर" छन्द के नाम से अभिभूत किया है । यद्यपि युद्ध सम्बन्धी तैयारियों, दर्पोक्तियों एवं तेगा-तलवारों की झंकारों से ही समस्त आख्यान ओतप्रोत है । यत्र-तत्र नीति कथन, नगर वर्णन एवं प्रेमालाप आदि का चित्रण मिलता है, परन्तु यहाँ भी जगनिक ने किसी अन्य छन्द को नहीं अपनाया । आज के गायक भी स्वर में अन्तर रखते हुए इसी छन्द को गायन का माध्यम बनाए हुए हैं । इस छन्द में परिबद्ध इस काव्य ने ही इसे "वीर छन्द" और कालान्तर में "आल्ह छन्द" की संज्ञा दी होगी ।

सोलह-पन्द्रह मात्राओं की गति-यति वाला यह लम्बा छन्द दीर्घ-ह्रस्व में अन्त पाता है । आल्हा की उपरि-उद्धृत सभी संस्करणों में अधिकाधिक यह दीर्घ-ह्रस्व "आय" या "आर" मिलता रहा है । कहीं-कहीं "य ा - र" के स्थान पर अन्य तरल ध्वनियाँ भी हैं । शायद दूसरी उठान के लिए यह ध्वनियाँ सहायक होती होगीं । व्याकरणिक दृष्टि से यह "य" पूर्वकालिक प्रत्यय है जो कि कथन की पूर्णता का बोध कराता है, पर बात को समाप्त नहीं करता । इसलिए आख्यान को आगे बढ़ाने में सहायक होता है :-

सुमिरन करिके नारायन औ गनपत के चरण मनाय
लिखौं.....।

संस्कृत की तत्सम् शब्दावली का नितांत अभाव पाया जाता है । काव्य में न तो उच्च कोटि के चिन्तन-दर्शन के लिए स्थान है, न रामकृष्ण के समान पौराणिक चरित्रों की ही अवतारणा हुई है और न ही उपमान विधान जटिल है । संपूर्ण आख्यान घटना प्रधान है और घटनाओं की अतिरंजनापूर्ण वर्णनात्मकता ही काव्य को आकर्षक बनाए हुए है । जन-साधारण में प्रचलित शब्दावली ही इस काव्य का मुख्य उपादान है । आश्चर्य तो यह है, कि वीरत्वव्यंजक प्राकृताभास शब्दावली जो कि 18वीं सदी तक हिन्दी के वीर-काव्यों में छाई रही, यहाँ कहीं ढूँढने से भी नहीं मिलती । उपलब्ध

सभी संस्करण इसके प्रमाण हैं । लिखित काव्य यदि मूलरूप में होता तो लोक की धारणा-शक्ति ऐसी शब्दावली को यथासंभव गाथा में संजोए रखती ।

विदेशी शब्दों (अरबी-फारसी एवं अंग्रेजी) का अभाव भी कम आश्चर्य में डालने वाला नहीं है । ऐसे शब्द आज के लोक-साहित्य में या लोकजीवन में इस काव्य से कहीं अधिक सुलभ हैं । मंजिल (यात्रा-पड़ाव) शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर पाया जाता है । "सात दिना की मंजिल करकें" या "बारा दिना की मंजिल करकें" कहीं-कहीं पुनरावर्तन के रूप में- "मंजिल-मंजिल के चलिबे में नैनागढ़ में पहुँचे जायं ।" "तलाक" शब्द का प्रयोग एक ही आख्यान में हुआ है, परन्तु बड़े प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त है--

"तीन तलाकें दई चंदेले, भर भादों में दियो निकार ।"(1) "शपथ धारण करवाना" किसी वस्तु को छोड़ देने का भाव यहाँ "तलाक" शब्द से स्पष्ट हो रहा है । बुन्देली कही जाने वाली शब्दावली भी लगभग नगण्य है । उत्तर भारत की व्यापक भाषा ही इस काव्य की आधारभूमि है । यह बात व्याकरणिक रूपों को देखने से और भी स्पष्ट होती है ।

शब्दों की ध्वनि-संरचना (परिणामतः वर्ण योजना) में एक बात और उल्लेखनीय है कि आल्हैतों का आज का उच्चारण भी "आल्हा मनउआ" है, "मनौआ" नहीं । इसी प्रकार चढ़इया, लड़इया, चिरइया, नइया, लगइयो आदि उच्चारण अनुकूल लेखन हैं । चढ़ैया, लड़ैया, चिरैया, नैया, लगैयो उपयुक्त नहीं । अवध संस्करण में ऐसा ही लिखा गया है परन्तु सागर प्रकाशन में सन्धि युक्त - ऐ का लेखन है ।

व्याकरणिक रूपों के संदर्भ में भी दो-एक उखड़ी हुई टिप्पणियाँ विचारणीय हो सकती हैं :-

(1) वर्तमान एवं भविष्यत् काल की अभिव्यक्तियों के लिए धातु रूपों में कृत-प्रत्ययों- त एवं ग का योग आज बहुप्रचलित है, परन्तु सोलहवीं सदी के बाद ही इनका प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ा है । इसके पूर्व पुरानी हिन्दी में "ऐ" एवं "ह" प्रत्ययों का ही प्रचार-प्रसार था । उपलब्ध संस्करणों में तिङन्तीय रूपों का एकाधिपत्य गाथा की

द्रष्टव्य : (1) आल्हा निकासी - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 29.

प्राचीनता का परिचायक है । यथा :-

खट-खट - खट-खट तेगा बाजै, बाजै छपक-छपक तलवार ।
सुरचन-सुरचन नये बेंदुला, उदल कहै पुकार-पुकार ।

***

डांड़ मरैहौं जो तुरतै ना, तौ महुबे को लेंय लुटाय ।

***

जियत महोबे हम जै हैं ना अथवा- का पर मिलिहैं आल्हा-उदल ।[1]
जब सुधि ऐ है हमैं तुम्हारी, तब हम करिहैं कौन उपाय ।

[2] पुरानी हिन्दी तथा ब्रजबोली के संज्ञा एकवचन के ऐ/ऐं विभक्त्यंत प्रयोग भी ध्यान आकर्षित कर रहे हैं---

अ - जियत महोबे हम जै हैं ना
ब - जगनिक चले कनौजै जात
स - पिछली टापैं धर गज माथैं आदि ।

[3] निर्विभक्तिक प्रयोगों की कमी और इन स्थानों पर परसर्गों की बहुलता तथा संयुक्त क्रियापद-रचना की ओर झुकाव, जो कि सं. 1953 के अथवा संस्करण में भी दिखाई देता है, इस काव्य को इस रूप में सत्रहवीं सदी से ऊपर नहीं ले जा सकते ।

लोक में एक ही शब्द,समय के थोड़े से अन्तराल को प्राप्त करके [काल, स्थान, व्यक्ति] अनेक रूपों में अभिव्यंजित होता है । "मामुलिया" में प्रकाशित "शिबूदा" के आल्हा में "आल्हा" भी अल्ल, अल्लन बनकर छा गया । अल्लन का- "न" बद्रीनाथन के- "न" की तरह आदर सूचक है । चंदेलों की राजधानी भी महोबा, महोबौ, महुबी, मोहबो, मुहबौ आदि कई रूपों में छपकर सामने आई है । गायक अपनी सुविधानुसार शब्दों को तोड़-मरोड़कर या उनके पर्याय शब्दों में बदलता चलता है । जैसे--- माहिल भूपत की चुगली में,

बाराबाट भए परमार ।

"भूपत" के स्थान पर "राजा" और "मामा" शब्दों का प्रयोग भी मिल रहा है । कहीं-कहीं मूलभाव की व्यंजना के लिए विस्तृत उपादानों का भी सहारा लिया गया है । "बाराबाट" शायद गायन क्षेत्र का न हो अथवा उसकी प्रयोग-क्षमता के निकट का न हों, यह भी संभव है । अप्रस्तुतों की सन्निकट योजना में उसका मेल न बैठता

[1] बड़ा आल्हखण्ड - पं. महावीर प्रसाद ।

हो । भायक इस भाव की व्यंजना भिन्न प्रकार से करता है :-

माहिल भूपत की चुगलिन में,
राजा बिगर गए परमार ।

पूर्वक्रम में- काई ने तालाबों को, पर स्त्री ने पुरुषों को और इसी प्रकार माहिल की चुगली ने राजा परिमाल को बिगाड़ दिया है । यहाँ दृष्टान्तों की समानान्तर योजना प्रस्तुत को प्रभावशाली बना रही है जबकि "बारावाट" शब्द अपनी लाक्षणिकता के बल पर जमा बैठा है । इसी प्रकार- "को असने में ऐ है काम"- "असने"- को "गाढ़े" अथवा "आड़े" में स्थानापन्न किया गया है । "असनी" विपत्ति के अवसर का अर्थ प्रस्तुत करता है । सागर-पाठ के कुछ बुंदेली प्रयोगों पर भी दृष्टिपात होना आवश्यक है । उसरी {बारी} - "गाँजर उसरी तो ऊदल की, महुबा लई कन्नौजीराय ।" आगे सरकना, हट जाना, बढ़ जाना {उत्+स्ट} यह तो मूल अर्थ है परंतु हटने के स्थान पर स्थानापन्नता का भाव यहाँ स्थायी हो गया है । और भी— उसरिन खेलो गंगाठाकुर, जैसे कुवाँ भरे पनिहार । "भरभादों"- भरा हुआ भादो" का महिना, अर्थात जिस समय वर्षा की झड़ी लगी हो । वर्षा-ऋतु के माह - सावन, भादों कहे गए हैं । जगनिक कहते हैं कि—

सावन चिरइया न बन छाँड़ै,
न बनजारी बनज कौं जाय ।

घर से बाहर निकलने के लिए इन दिनों को दुर्दिन कहा गया है । परिनिष्ठित हिन्दी में भी - "भरतक" {भरी हुई शक्ति}, भरपूर {भरा और पूरा} आदि बहुत-से प्रयोग हैं, पर "भरभादों" की लाक्षणिकता आकर्षक है । "सौतक गिनती एकै बिनती" - एक ही बात को घुमा-फिराकर अनेक-प्रकार से कहना, अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाली यह लोकोक्ति बात की दृढ़ता की परिचायक है । एक ही वजन के शब्द-चयन {गिनती और बिनती} के समानान्तर प्रयोग ने उक्ति को ग्राह्य बना दिया है । "सौ सुनार की एक लुहार की" - हिन्दी क्षेत्र की यह बहुप्रचलित लोकोक्ति इसी वजन की है । "सौ" जनसाधारण की गिनती की उच्चतम सीमा है ।

भाषायी तत्वों {ध्वनि, अक्षर, शब्द आदि} की आवृत्तियाँ लोकसाहित्य को स्मरणीय बनाए रखने में अत्यधिक सहायक होती हैं । काव्य-शास्त्रियों ने इसे

अनुप्रास अलंकार की संज्ञा दी है और जिसमें वर्णानुक्रम का विधान किया है । वस्तुतः वे ध्वनियाँ वाक्षुष रूप, वर्णों की एक व्यवस्थित आवृत्तियाँ ही तो हैं । उच्चरित ध्वनि तब तक कानों को झंकृत किए रहे, जब तक लगभग उसी झंकृति को उत्पन्न करने वाली ध्वनि फिर से उच्चारित न हो जाए । वस्तुतः ध्वनियों की ऐसी ही संयोजना आनुप्रासंगिक विधान के अन्तर्गत आती है । ये आवृत्तियाँ कानों में मधुरता घोलती हैं, काव्य को प्रवाहमान बनाती हैं, घटनाओं में चित्रात्मकता लाती हैं तथा वर्णनाओं में जीवंतता प्रदान कर बिंबों को उपस्थित करती हैं । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

§1§ अनुकरणात्मक आवृत्तियाँ :-

खटखट-खटखट तेगा बाजे, बाजे छपक-छपक तलवार ।
धरती धसकन औ रनजूझन, खंदक तोड़न दई चलाय ।
अ र र र र र र र सन-सन गोला छूटैं, कहँ-कहँ करैं अगिनियाँ बान ।
सन-सन सन-सन गोली छूटैं, सर-सर परी तीर की मार ।

§2§ ध्वनि-साम्य सम्बन्धी अक्षर आवृत्तियाँ :-

कोड़ा चटको, घोड़ा दंदको.....।
लिख परबानो, कियो रबानो.....।
कोउ नालकिन, कोउ पालकिन.....।
कै भर लीजै, कै भर दीजै.....।
जगनिक कोपों और रन रोपो.....।

आवृत्तियों के कार्यों की भिन्नता पूर्वापरक्रम और गति सत्वरता आवश्यकतानुसार अभिव्यक्त हो रही है ।

§3§ समानार्थक आवृत्तियाँ :-

ठौर-ठिकानो, हाल-हकीकत, कोष-खजानो, कुशल-क्षेम, भूल-चूक, बनिज-ब्यौपार, लाज-शरम, बुलाबो-चलाबो, आबो-जाबो, जग-सिंसार ।

§ध्वनि एवं व्याकरण समाहार की द्योतक शब्दावली आलोच्य पाठ में उपलब्ध नहीं है वैसे लोक में, यह संपत्ति अटूट है ।§

§4§ समध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थ आवृत्तियाँ एवं पुनरावृत्तियाँ :-

बातन-बातन बतबढ़ हो गई, औ बात में बढ़ गई रार ।

***

सगुन बिचारै बाम्हन कायथ, जौ धरि मौर बिआहन जाएँ ।
सगुन बिचारै बनिया-बाटू, नित उठ करै बनिज-ब्यौपार ।
सगुन बिचारै का क्षत्री हवै, जो रन चढ़िकै लोह चबाय ।

— ब्रह्मानंद का ब्याह

कटकट मांस गिरै धरती पै, पै न धरौं पछाड़ँ पांव ।

इस प्रकार की आवृत्तियों से कविता के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता, अन्तर आता है प्रभाव में, जो कि पुरानी कविता के लिए और लोक काव्य के लिए आवश्यक है । कहीं-कहीं मन-मस्तिष्क को छूने वाली आवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :-

जग रूठै, रूठै रामहु जो, चाहै रूठ जायं परमाल ।
उइन बछेरा तैं न रूठियो, नदिया बेतवै के मैदान ।

— (सागर-संस्करण)

(लोक-परलोक बिगड़ने से क्या, उइन बछेरा के साथ तो जन्मभूमि का सम्मान और परहित भावना जुड़ी हुई है ।) समूचे आल्ह-काव्य में कहीं भी जटिल अलंकार-विधान नहीं है, परन्तु उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक जैसे सादृश्यगर्भित अलंकारों की भी कमी नहीं है । यथा :-

(1) बहिनि बदरिया तुमकौं सुमरौं
कौंधा बीरन की बलि जायं,
झमकि बरसियो मोरे अंटा पै
कंता आज रैनि रह जायं ।

— (सागर-संस्करण)

सावन की बदली को समदुख-भागिनी बहिन के रूप में और विद्युत की चमक को ददीलि भाई के रूप में रक्षार्थ पुकारा गया है । कौंध को कौंधा कहकर, उसे पुरुषत्व प्रदान किया है ।

(2) अजगर लाग रहा दरबार.....

भारी भरकम योद्धाओं से सजे दरबार की तुलना भारी-भरकम मोटे सांप से की गई है ।

§3§ जैसे भिड़ुआ भेड़न पैठे, जैसे सिंह बिडारे गाय ।
ऐसे ब्रह्मा दल में पैठे, छत्रिन काट करैं खरिहान ।

— §अवध-संस्करण§

§4§ कीरत सागर की पारन पै, भारी बही रकत की धार ।
ढालैं डारी हैं लोहू में, मानों कछुआ-सी उतरांय ।
डरी बंदूकें हैं लोहू में, मानों नाग रहे मन्नाय ।
पगियां डारी हैं लोहू में, मानों कमल फूल उतरांय ।
परे दुसाला जो लोहू में, मानों कच्छ-मच्छ उतरांय ।

— §अवध-संस्करण§

§5§ जैसे भिड़या पड़े खेत में, चीरै-फाड़ै औ खा जाय ।
जा गत करदी है लाखन ने, दल पूला-सा दिया बिछाय ।

— §दिल्ली-संस्करण§

§6§ मुर्दे ऐसे बहें लोहू में, जैसे नददी बीच सिकार ।
ऐसे पेंच पड़े पगड़िन में, जैसे नाग लपेटा खांय ।
पड़ी बंदूकें यूँ लोहू में, मानों मगर रहे लहराय ।

— §दिल्ली-संस्करण§

§7§ गोला लग जाय जिस हाथी के, मानों पर्वत सा ढै जाय ।
गोला लागै जिस घोड़ा के, मानों कला कबूतर खाय ।
***
मेह के माफिक गोली बरसै, जैसे इन्दर झड़ी लगाय ।

— §दिल्ली-संस्करण§

अभिव्यक्ति का वास्तविक जामा पहनाने के लिए तथा घटनाक्रम को जीवंतता प्रदान करने के लिए काव्य में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है । घोड़ों का नस्लों, हाथियों के नामों, वाद्य यंत्रों की सूचियाँ, जिरह-बख्तर के प्रकारों तथा योद्धाओं के नाम-पता आदि सभी की चर्चा पुरानी कविता की तरह यहाँ भी हुई है । बुंदेली लोकसाहित्य की एक विशिष्टता यह है कि किसी प्रसिद्धि को उसके नाम-स्थान या व्यक्ति-नाम से जोड़ दिया जाता है जैसे- मौंधा की सौनो, महोबे की कजरियाँ, खजुराहो की मेला, दतिया के सिपाई और

कहानियों में- "बूझी तौ सरसई के मौंड़ा कौन जनावर आय ।" आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं ।§1§

आलोच्य काव्य में--

चलै सिरोही मनासाही
औ बूँदी की असल कटार ।
तेगा चटकै बर्दमान कौ
कट-कट गिरैं सुथरवा ज्वान ।
***
कागज लैकैं कलपी वारौ
अपनौ कलमदान लै हाथ ।

परमाल रासो §आल्हखंड§ के भाषा-विश्लेषण पर जो कुछ लिखा गया है, वह संतोषजनक नहीं है । वस्तुतः प्रकाशित संस्करणों की समान अभिव्यक्तियों को लेकर ही काव्यात्मक भाषायी विवेचना किया गया है । यदि सर्वेक्षण से प्राप्त किसी एक आल्हारूप पर अथवा अन्य संस्करणों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए, तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया जाय तो अधिक कारगर सिद्ध होगा ।

परमाल रासो का भाव-सौन्दर्य :-

लोक-हृदय की अभिव्यक्ति लोकवाणी में होती है जिसे लोकसाहित्य की संज्ञा दी जाती है । सामान्यतः लोकशब्द का यही व्यवहारिक प्रयोग है । लोक अपने हृदय में प्रेम की रसधारा प्रवाहित करता रहता है जो पर्वत के शिलाखंडों से अदृश्य रूप में रिसते हुए गंगा और यमुना जैसे विशाल प्रवाहों का रूप धारण कर लेती है । यही है, हिमालय जैसी लोकशक्ति की अभिव्यक्ति और यही है, जनचेतना एवं जनसंस्कृति की अक्षुण्ण और पुनीत धारा ।

परमाल रासो §आल्हखंड§ इसी को चरितार्थ करने वाला लोक महाकाव्य है जो लगभग 800 शताब्दियों के बाद आज भी लोककंठ में उसी गरिमा के साथ जीवित है । उसके शाश्वत मूल्य का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है ? उसके भाव और अनुभूतियाँ लोक-हृदय में पुष्पित-पल्लवित होने के कारण दो रूपों में

---

§1§ आल्हखंड : शोध और समीक्षा - डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त व डॉ. वीरेन्द्र "निर्झर".

सामने आती हैं - व्यक्तिपरक भावानुभूतियाँ और समाजपरक भावानुभूतियाँ । व्यक्ति-परक भावों में भावों का सहज उद्वेग प्रधान होता है । इसमें व्यक्ति की दृष्टि समाजोन्मुखी न होकर अन्तर्तम् की भावनाओं से प्रेरित होने के कारण स्वहित से प्रेरित होती है ।

समाजपरक भावानुभूतियों में या समाजोन्मुखी भावों में आदर्शवादी विचार-धारा के सम्मुख आन्तरिक भावनाएँ चीत्कार करती रह जाती है । एक समेटना चाहता है, दूसरे भाव-बलिदान करना जानते हैं । यहाँ व्यक्ति स्वहित के स्थान पर जनहित से प्रेरित होकर व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे कर्तव्य क्षेत्र में आ डटता है ।

चंपा-चमेली फूल रही है, आम बौरा रहे हैं, नीबू, नारंगी, मेंहदी, करोंदी आदि सभी वृक्ष सघन होकर मौसम को मदान्ध कर रहे हैं । ऐसे में नाजुक उमर, दूसरे सखियों का साथ और परस्पर हास-परिहास, अविवाहिता सखियों के मन में विवाह के प्रति राग उत्पन्न करते हैं । इनके मन में उद्दीपनकारी प्रकृति, सौन्दर्य का भाव जाग्रत करके प्रिय-मिलन की हूक उत्पन्न कर देती है । इस प्रकार के वर्णन व्यक्तिपरक न होकर समष्टिपरक हो गए हैं । यथा :-

> मास अषाढ़ घटा नभ काली, पानी बरसत है चहुँ ओर ।
> टपकत बूँद गिरत छाती पै, भुइयाँ बिरह जनावत जोर ।
>
> ***
>
> भादों मास अँधेरी छाई, चमकै कौंधा जिया डराय ।
> सूनी सेज पिया बिन आली, पड़ती नींद रात में नांय ।[1]

राजकुमारी चन्द्रावलि का विवाह हो रहा है । एक तो चन्द्रावलि का अद्वितीय रूप-सौन्दर्य, दूसरे सौन्दर्य-वर्धक अमूल्य आभूषित वस्त्राभूषण, इसके ऊपर रूप और ऐश्वर्य की खान "इन्दल" जैसा "वर" - नारियों के मन में भला ईर्ष्या का विषय क्यों न बनता । ऐसे स्थलों के भावों की सूक्ष्मता देखते ही बनती है---

> जैसी छबि है चन्द्रावलि की, तैसे आप मिला भरतार ।
> गीने वाली मौनी हो गई, ब्याही लरज-लरज रहि जायं ।
> बदन निहारे तब दुख मानें, औ मन ही मन करें बिचार ।[2]

---

[1] लाखन राना का गौना - श्रीकृष्ण प्रकाशन, कानपुर, पृ. 15.
[2] चन्द्रावलि का ब्याह - वही : पृ. 57.

इन स्थलों पर नारी-स्वाभाव की ईर्ष्या नामक भाव-व्यंजना बड़ी सूक्ष्मता के साथ हुई है । जिन सखियों के गौने हो गए हैं वे चुप रह गई, क्योंकि अब उनके लिए हो ही क्या सकता है । ब्याही सज्जावश झुक-झुक पड़ती है कि शायद हमारे प्रियतम् भी ऐसे ही हों । फिर चन्द्रावलि का सौन्दर्य देखकर, सबसे पहले उससे अपने मुख की तुलना करती हैं और दुख मानती हैं जो नारी-स्वाभाव का आदिम सत्य है ।

इस लोक-काव्य में "आल्हा-मनौआ", जमुना-हरण, भाइयों की लड़ाई, नदी बेतवा की लड़ाई तथा अन्य लड़ाइयों में रानियों के सती होने के प्रसंग अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं । लाखनराना महोबा जाने के लिए तैयार हैं, रानी कुसुमा से वे आज्ञा लेने जाते हैं । रानी कुसुमा का रूप-सौन्दर्य पलभर में उन्हें मूर्छित कर देता है, कर्तव्य से विमुख कर देता है । किन्तु कुसुमा उन्हें क्षत्रियत्व का बोध कराती है--

नैन-बान जब मूर्छित हो गये, रन में कहा करौ तलवार ।

लाखन सचेत हो जाते हैं, तब पति के रण में जाने की सूचना रानी कुसुमा को अत्यधिक विरहाकुल कर देती है । पति को रणक्षेत्र में न जाने के लिए अत्यन्त मार्मिक शब्दों में कहती है--

सावन सूनो है बदली बिन, सूनो कमल बिना है ताल ।
रैन तो सूनी है चंदा बिन, कंता बिना है सूनी नार ।{1}

लाखन के न मानने पर, वह क्रोधित होकर आल्हा-ऊदल को भला-बुरा कहती है जिन्होंने उसके पति को युद्ध हेतु उद्यत किया है । प्रकृति के उपादानों से भी, व्यथित होकर याचना करती है । यथा :-

ऊमर चितै कही व्याकुल ह्वै, बहिनि बदरिया होउ सहाय ।
कारी बदरिया तुमको सुमरौं, काँधा बीरन की बलि जाऊँ ।
झमकि के बरसो तुम ऊंटा पर, कंता आज रैनि रहि जायं ।{2}

प्रियतम से बहुत गुहार की फिरभी वह नहीं मानते हैं, तब बेचारी अबला और करे भी क्या ? बदली, मेघ और बिजली से ही सहायता मांगती है । यह भाव हिन्दी और संस्कृत की काव्य-प्रकृति में सर्वथा दर्शनीय है । परन्तु यहाँ-- "कंता आज रैनि रहि जायं ।" में लोक हृदय की कैसी सजीव अभिव्यक्ति है । रानी नव परणीता है,

---

{1} वही : पृ.सं. 12
{2} वही : पृ.सं. 14.

प्रिय का सान्निध्य उसे प्राप्य नहीं है अपर से उद्दीपनकारी प्रकृति उसे और भी बेचैन कर देती है । प्रिय युद्ध में जाने से मानते नहीं हैं, तब बिजली और बादल से ही कहती है कि- ऐ, बिजली और बादल तुम्हीं बरस कर मेरे प्रियतम का रास्ता रोक लो, जिससे वह कम से कम आज रात ही रुक जायं । यहाँ अभिलाषा और दीनता के भाव बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित हुए हैं । किंतु जब पति की कर्तव्य-निष्ठा देखती है तब भाव में परिवर्तन होता है । वीरत्व जागता है और वह स्वयं प्रियतम को कर्तव्य मार्ग दिखाती है—

पाँव पिछारू तुम ना धरियो, नहिं क्षत्रिय पन जाय नसाय ।
जो सुनि पैहों भगे कनौजी, तो मैं पेट फार मर जाऊँ ।
रन के सन्मुख जो मरि जैहो, हुइ हौं सती तुम्हारे साथ ।§1§

यमुना-हरण प्रसंग में कमला-नवला-प्रसंग भी इतना ही मार्मिक बन पड़ा है । एक ओर श्रृंगार और वीरभाव में द्वन्द्व है, दूसरी ओर व्यक्ति और सामाजिक हित में विजय । विजय होती है वीरभाव और सामाजिक हित की । इसलिए इन स्थलों पर श्रृंगार-भाव प्रधान होते हुए भी, वीरभाव के सम्मुख टिक नहीं पाते । श्रृंगार यहाँ सतही हो गया है और वीरभाव प्रधान ।

आन्तरिक भावनाओं का उद्वेलन जहाँ कर्तव्यपथ से विमुख करने का प्रयास करता है वहाँ जाति-हित से प्रेरित वीरभाव भावनाओं को युद्ध क्षेत्र के लिए बाध्य कर देता है । जहाँ न प्रिय को प्रियतमा की परवाह है, न प्रियतमा को प्रिय की, न बेटे को माँ की और न हि माँ को बेटे की, आल्हखंड में सर्वत्र ऐसे प्रसंगों में वीर भावनाओं ने ही प्रतिष्ठा पाई है । लाखन बारह रानियों का इकलौता पुत्र है, इसलिए राजा-रानी का बेटे को रणभूमि में भेजने से दिल घबराना स्वाभाविक है । इसलिए वह अत्यन्त आर्तपूर्ण शब्दों में, ऊदल से लाखन को रण में न ले जाने की याचना करते हुए कहते हैं—

आस लकरिया एक राजा की, सो तुम मानो कही हमार ।
संग न लेवो तुम लाखन को, रानी देवकुँवरि के लाल ।§2§

ऊदल द्वारा शपथ-याद दिलाने पर, लाखन की माता- तिलका विवश होकर लाखन को

---

§1§ नदी बेतवा की लड़ाई - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 18.
§2§ महोबा की लड़ाई - " पृ. 18.

रण में जाने के लिए उनका तिलक करती है तब मातृ-हृदय की कोमल संवेदना बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ती है । पुत्र की कुशलता के लिए वह सभी वीरों से सहायता की याचना करती है । किन्तु युद्ध में प्रायः सभी तितर-बितर हो जाते हैं केवल वाहन ही साथ देता है । अतः रानी तिलका, लाखन का प्रिय वाहन {भुरी हथिनी} से अनुनय-विनय करने में नहीं चूकती :-

हाथ पकरि कै तब लाखन को, औ भरद्वी से कही सुनाय ।
तुमकों सौंपति हौं लाखन कौं, रण मत धरियो पाँव पिछार ।
रोचना करिके तब तिलका ने, औ छाती से लियो लगाय ।{1}

महाराज पृथ्वीराज चौहान द्वारा महोबा की घेराबंदी किए जाने पर, नाराज आल्हा-ऊदल जब महोबा सहायतार्थ जाने के लिए तैयार नहीं होते, तब रानी मल्हना और देवल वात्सल्य की दुहाई देती हैं । इस प्रकार आल्हा-ऊदल विचलित हो जाते हैं । यहाँ जाति-सम्मान और वात्सल्य भाव दोनों एक साथ उभर कर सामने आए हैं:-

डोला जैहै चन्द्रावलि को, तब चलि जैहै पाग तुम्हार ।
धाही दिन को हम पालो है, को अलमय में रैहै काम ।
सो तुम धाय रहे कनवज में, हा पर परी आपदा आय ।{2}

आल्हा जैसे वीरोदात्त पात्र में भावों का द्वन्द्व "आल्हा-मनौआ" खण्ड में सबसे अधिक है । आल्हा किसी भी परिस्थिति में महोबा आने के लिए तैयार नहीं है, तब मल्हना कैसे मार्मिक शब्दों में आल्हा को सूचना भेजती है । वह सूचना-पत्र में लिखती है कि— जहाँ रानी देवकुँवर तुम्हें रसोई बनाकर खिलाती थी वहाँ अब गायें कटने लगी हैं । तुम्हारी पवित्र मातृभूमि बुरी तरह रौंदी जा रही है । जब तुम्हारी बहिन की डोली पृथ्वीराज दिल्ली ले जाएगा, तब समाज में क्या इज्जत रह जायगी ? एक ओर पावन जन्मभूमि की रक्षा, दूसरी ओर कुलमर्यादा । अन्ततः यह भावनाएँ आल्हा-ऊदल को महोबा वापस आने के लिए बाध्य कर देती हैं । परन्तु जैसे ही वीर मलखान की मृत्यु का समाचार, आल्हा जगनिक से सुनते हैं, तो पुनः उनके मन में परशुराम के प्रति घृणा का भाव उमड़ता है । यहाँ प्रेम और करुणा-भावना के कारण उत्पन्न घृणा का भाव उन्हें पुनः विचलित कर देता है । यथा :-

---

{1} वही : पृ. 15.
{2} कीरत सागर की लड़ाई - पहलवानी आल्हा प्रकाशन, मथुरा, पृ. 28.

पाई खबर जब सुनि आल्हा ने, मारे गए वीर मलखान ।
हुकुम पेर दयो तब आल्हा ने, घोड़न जीन लियो उतराय ।
तो लौ जगनिक गै द्वार पे, तब आल्हा ते कही सुनाय ।
काहे जीन उतार दियो तुम, सो तुम हाल देउ बतलाय ।
बोले आल्हा तब जगनिक ते, घटिहा बसे रजा परमाल ।
मलिखे मारेगे सिरसा में, नाहीं खबर दई पहुँचाय ।{1}

फलतः आल्हा महोबा जाना स्थगित कर देते हैं, परन्तु जब देवल को यह सूचना मिलती है तो वह ऊदल को धिक्कारती है । देवल के यह शब्द ऊदल को तीर के समान बेधते हैं—

होती बेटी जो हमरे एक, काउ राजा घर होत ब्याह ।
कुम्मक ल्यौंती त्यहि राजा ते, औ महुबे को देति पठाय ।
— आल्हा-मनौआ खण्ड.

"आल्हा-मनौआ" नामक खण्ड में भावों का उतार-चढ़ाव, तीव्रता, गहनता, सूक्ष्मता, शब्दों द्वारा भावनाओं पर प्रहार, फलस्वरूप भावों के आवर्तन, प्रत्यावर्तन सभी बड़ी सरलता से चित्रित हैं । सभी लड़ाइयों में वीर-भाव के सहायक रौद्र, भयानक और बीभत्स भावों {रसों} का सुन्दर परिपाक हुआ है । तत्कालीन सामाजिक वातावरण के अनुरूप गुरु गोरखनाथ, अमरनाथ के शिष्य-शिष्याओं के जादुई प्रभाव में अद्भुत रस का संचार हुआ है ।

युद्ध के लिए रण-सज्जा, युद्ध-प्रयाण, सैन्य-संचालन और कार्य-प्रणाली आदि सभी वर्णन "परमाल रासो" में बड़ी व्यापकता के साथ हुए हैं । रण-क्षेत्र के वीरोचित संवादों में भी वीर भाव टपकता हुआ प्रतीत होता है—

इतनी सुनि लई जब ताहर ने, गुस्सा हवे के कही सुनाय ।
कही हमारी अबहू मानो, लाखनि लौट कन्नौजे जाव ।
प्रान तुम्हारे क्यों मारू है, जो नदिया पर रहे गंवाय ।{2}

किसी वीर के लिए इससे अधिक चुनौती और क्या हो सकती है । लाखन तुरन्त जवाब देते हैं :-

---

{1} आल्हा-मनौआ - कुँवर अमोलसिंह - पृ. 22.
{2} नदी बेतवा की लड़ाई - वही : पृ. 38.

आगे बढ़िके हम आए हैं, सो क्यों धरें पिछारू पांव ।
धरम क्षत्रियन को ये नाहीं, चाहे प्रान रहे कै जायं ।
मर्द बनाए मर जैबे को, खटिया परके मरै बलाय ।
होय पराक्रम जो तुमरे में, सो तुम हमहिं देव दिखलाय ।{1}

"माड़ौं की लड़ाई" में - माछिल जब ऊदल को दलराज और बच्छराज का दुर्दान्त सुनाता है तब उस समय ऊदल का रौद्र रूप अत्यन्त प्रभावी बन पड़ा है—

इतनी सुनिकैं ऊदल पड़पे, चोली खंड-खंड होइ जाय ।
छाय लालरी गई नैनन में, त्योरी चढ़ी उदयसिंह क्यार ।
***
बदला लैहों अपने बाप को, तब जियरा की डाह बुझाय ।
मूड़ काटिकै मैं जम्बे को, सो महुबे में देऊँ टंगाय ।{2}

युद्ध की विभीषिका में बीभत्स रस के भाव का सफल चित्रण दृष्टिगोचर होता है । यथा :-

छूटे पिचका हैं लोहून के, औ बुबकारिन बोलें धाव ।
हौदा भरिगे तहै लोहू से, औ घुघुआत फिरें असवार ।
बूड़ि जुलफियाँ गईं लोहू में, चरबी गई अंग लिपटाय ।
***
कटिगे कल्ला जिन घोड़न के, सो गिर परे भूमि महराय ।
कटि भुजदंडे रजपूतन के, चेहरा कटे सिपाहियन क्यार ।{3}

समाज-परक भाव-अभिव्यंजना में समाज की उस स्थिति का चित्रण है जब रजवाड़े छोटी-छोटी बातों से उत्तेजित होकर परस्पर युद्ध करने में अपनी शक्ति क्षीर्ण कर रहे थे । यवनों ने इन राजाओं की वैमनस्यता का लाभ उठाकर भारत पर अपना अधिकार कर लिया था । भारत-भूमि दासता की जंजीरों में जकड़कर बुरी तरह लूटी-खसोटी जा रही थी । ऐसी स्थिति में यदि आल्हा-ऊदल, पृथ्वीराज, लाखन आदि सभी अद्वितीय वीर परस्पर मिलकर विदेशी आक्रमण-कारियों से लोहा लेते तो क्या भारत की ऐसी दुर्दशा होती ?

{1} आल्हखंड : शोध और समीक्षा - डॉ॰ नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ॰ 212 एवं 55.
{2} वही : पृ॰ - 55
{3} वही : पृ॰ सं॰ 59.

ऐसे भाव, जो देशकाल और परिस्थितियों के अनुरूप बनते और बिगड़ते रहते हैं आल्हखंड में बहुत अधिक हैं । इन भावनाओं को जाग्रत करने में माहिलदेव ऐसा पात्र है, जो अपनी वाक्चातुरी से सभी के मन में सहानुभूति और विश्वास अर्जित कर अपनी कूटनीति से सर्वत्र युद्ध और पतन का कारण बनता है । इन स्थलों पर भावानुगामी भाषा का सफल प्रयोग है, जो भावनाओं पर तीखा प्रहार करके युद्ध को सन्धि और सन्धि को युद्ध में बदल देता है । राजकुमारी चन्द्रावलि का विवाह शांतिपूर्ण ढंग से संपन्न हो जाता है परन्तु माहिल के मन में चैन कहाँ ? वह तुरन्त वीरशाह को उकसाकर बखेड़ा खड़ा कर देता है कि बारात में आल्हा-ऊदल पारस करेंगे,तो कुलीन परिवारों का धर्म नष्ट हो जायगा क्योंकि बनाफर वंशी कुलहीन हैं--

जाति बनाफर की ओछी है, कोऊ न पियै घड़ा को नीर ।
जिन घर कोऊ नीर न पीवै, तिन घर पुत्र बिहाये आप ।[1]

राजा वीरशाह,जो अबतक पूर्ण सन्तुष्ट थे, माहिल की बातें सुनकर आखिर भड़क ही जाते हैं । माहिल के वाक्य उन्हें जाति-अपमान का बोध कराते हैं । फलतः बारात भोजन नहीं करती । यह बात राजा परमर्दिदेव के लिए अपमान-जनक होती है, अतः वे आल्हा को बारात की भोजन-व्यवस्था से अलग कर देते हैं । इधर बारात के सत्कार में आल्हा की उपेक्षा की जाती है जिससे उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है । उधर वीरशाह आल्हा के फाटक पर थूककर उन्हें भला-बुरा कहते हैं, ऐसी स्थिति में युद्ध कैसे न होता । आत्मसम्मान, वीरत्व और घृणा आदि सभी भाव ऐसे स्थलों पर एक-जुट हो गए हैं । माहिल की करामात संपूर्ण राजाओं में आपसी वैमनस्यता का कारण बनती है । परमाल और पृथ्वीराज की शत्रुता में, आल्हा के महोबा से निकाले जाने में, मलखान के प्रपंचपूर्ण बध में माहिल की कूटनीति ही कार्य करती है । वह बड़े ही मर्मभेदी वाक्यों से लोगों के मन में द्वेष, बैर, ईर्ष्या, वीरता आदि भाव जगाकर एक-दूसरे को रण में जूझने के लिए बाध्य कर देता है । इस दृष्टि से वह एक बड़ा चतुर एवं मनोवैज्ञानिक साबित होता है । वह बड़ी आसानी से बुद्धिजीवियों और वीरों के भावों में आवर्तन और प्रत्यावर्तन कर देता है ।

भावों के अनुरूप संवाद, भाषा, छन्द, अलंकार, शब्दशक्तियाँ आदि सभी सार्थक सिद्ध हुए हैं । वीरभाव के अनुरूप संवादों और भाषा का प्रवाह दृष्टव्य है-

---

[1] बड़ा आल्हखण्ड : पं.सीताराम, पृ.29.

लानत ऐसी रजपूती पे, तेगा बाँधन को धिक्कार ।
गरजी होवे जो लड़ने की, तो तुम करो सामना आय ।

***

खट-खट तेगा बाजन लागे, बोले छपक-छपक तलवार ।
चले जुनब्बी और गुजराती, ऊना चले बिलायत क्यार ।
बाजे तेगा बर्दमान को, कटि-कटि गिरैं सुगरवा ज्वान ।{1}

अलंकारों का प्रयोग भी वीरभावों को उद्दीप्त करने में सहायक है । यथा :-

मेघ डम्बरी बड़े-बड़े हाथी, लागे साथ कनोजीराय ।
मानो मेघ माल लै धाये, गिरि कज्जल से पड़े दिखाय ।

***

मद्दे दन्ता गज-गिरि के दमकें, जैसे चपला घन चमकाय ।

समग्रतः परमाल रासो {आल्हखण्ड} उत्कृष्ट वीर-काव्य है जिसमें सभी भावों का समन्वय बड़ी सहजता से हुआ है । वीरत्व का अजस्त्र स्त्रोत तो जैसे अपनी रसधारा झलका रहा है । इसके समकालीन वीर-काव्यों में भावों की अपेक्षा भाषा-चमत्कार अधिक है। अर्थात भाषा से वीरभाव प्रवाहित हुआ है । इस दृष्टि से यहाँ भावानुगामी भाषा चमत्कार-प्रधान हो जाती है । प्रधानतः भाषा भावों की अनुगामिनी होती है । भाव अपने आप टपकते हैं । श्रृंगारी भाव यहां सतही हो गया है, वीरभाव प्रधान है । भाषा, संवाद, अलंकार छन्द और शब्द शक्तियों के प्रयोग से भावों में सूक्ष्मता, गहनता व प्रभावोत्पादकता आई है ।

परमाल रासो {आल्हखण्ड} का महाकाव्यत्व :-

महाकाव्य मानव-जीवन का समग्र रूप-निदर्शन होता है । वह व्यक्ति के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों एवं लोकजीवन का व्यापक दृश्य प्रस्तुत करता है । जिस प्रकार छोटी-छोटी स्त्रोतस्विनी धाराएँ मिलकर नदी को विशाल आकार देती हैं, उसी प्रकार छोटी-छोटी कथाएँ विस्तृत कथा के साथ एकाकार होकर उसके कलेवर को सुदृढ़ एवं विस्तृत रूप प्रदान करती हैं । इस प्रकार आकार निर्मित होता है महाकाव्य का ।

महाकाव्य के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत

{1} वही : पृ. 155.

की है । "अरस्तू" महोदय कहते हैं, कि- "महाकाव्य वह काव्य रूप है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जिसमें षट्पदी छन्द (हिक्सामीटर वर्स) का प्रयोग होता है, जिसका कथानक दुखान्त नाटक (ट्रेजेडी) के समान अन्विति युक्त होता है । जिसमें कोई एक घटना होती है, जिसका आदि, मध्य और अन्त युक्त जीवन्त विकास दिखाया गया रहता है और इस तरह वह कथा जीवित प्राणी की तरह एक इकाई मालूम पड़ती है । महाकाव्य में समुचित आनंद प्रदान करने की क्षमता होती है । उसका रूप-संघटन इतिहास से बहुत भिन्न होता है क्योंकि इतिहास एक व्यक्ति की समन्वित कथा नहीं कहता, बल्कि एक काल के एक या अनेक व्यक्तियों और घटनाओं की कथा कहता है ।"(1)

भारतीय विद्वानों व काव्य-शास्त्रियों की धारणाएँ अरस्तू के विचार से मेल नहीं खाती । उनकी मान्यता है कि- महाकाव्य में महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा, गुरुत्व, गाम्भीर्य, युगजीवन के विविध चित्र, सुसंगठित जीवन्त कथानक, महत्वपूर्ण नायक, गरिमामयी उदात्त शैली, तीव्र प्रभावोत्पादकता और गंभीर रस-व्यंजना, अनवरुद्ध जीवन शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता होना चाहिए ।(2)

डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने कथानक, आकार व शैली को दृष्टिगत रखते हुए, महाकाव्यों के निम्नलिखित रूप निर्धारित किए हैं । यथा :-

(1) विकसन शील महाकाव्य
(2) रोमांस और रोमांचक महाकाव्य
(3) स्वच्छन्दतावादी और मनोवैज्ञानिक महाकाव्य ।
(4) विकसनशील लोक महाकाव्य
(5) पौराणिक महाकाव्य
(6) रूपक कथात्मक महाकाव्य
(7) संस्कृत के अलंकृत महाकाव्य

"परमाल रासो" एक विकसनशील लोक महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। समय के प्रवाह तथा लोकप्रियता आदि के कारण "आल्हा" या "आल्हखण्ड"

---

(1) हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप - विकास, डॉ. शम्भूनाथ सिंह, पृ.सं. 73-74.
(2) वही : पृ.सं. 93-94.

का रूपाकार लघु, बृहत्, बृहततर और बृहततम् होते रहे । परमाल रासो आल्हखंड का विस्तृततम् या बृहततम् रूप है ।

डॉ. शम्भूनाथ सिंह आल्हखण्ड या परमाल रासो को विकसनशील लोक-महाकाव्य स्वीकारते हुए कहते हैं कि- "विकसनशील लोक महाकाव्य लोकगाथाओं के चक्रों से विकसित होते हैं । हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में वर्तमान समय में लोक-प्रचलित गाथाचक्रों में आल्हा विशेष प्रसिद्ध है । इन गाथाओं के लिए गीत, पँवारा, गाथा आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है । ये गाथाएँ सैकड़ों वर्षों से हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में कंठानुकंठ रक्षित और विकसित होती आ रही हैं । विभिन्न लोकगाथाओं में "आल्हखण्ड" ऐतिहासिक आधार या पृष्ठभूमि वाली गाथा है । ऐतिहासिक आधार से तात्पर्य यह है कि इनके पात्रों और घटना-स्थलों के नाम आदि तो ऐतिहासिक हैं पर घटनाएँ अधिकतर अनुश्रुतियों पर आधारित हैं । फिर भी सामान्य ग्रामीण जनता उन्हें इतिहास के रूप में ही सत्य मान कर उनसे शक्ति, प्रेरणा और उत्साह ग्रहण करती है । इस दृष्टि से आल्हा या आल्हाखण्ड सर्वाधिक प्रेरणा-दायक और शक्तिशाली गाथाचक्र है जिसके पात्रों और घटनाओं को उत्तर भारत की सामान्य जनता ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करती आई है ।"§1§

जयशंकर प्रसाद जी ने आल्हखण्ड को संकलनात्मक महाकाव्य माना है और महाभारत की परंपरा में स्थान दिया है ।§2§

जार्ज ग्रियर्सन महोदय, आल्हखंड की एक गाथा §एक खण्ड§ को ही महा-काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं ।§3§

लोकनाथ द्विवेदी "सिलाकारी" जी अपने ग्रंथ- "महाकवि जगनिक कृत लोक-गाथा काव्य आल्हा" के माध्यम से कहते हैं कि- "परमाल रासो या आल्हखंड एक लोकगाथा काव्य है जो उत्तर भारत के ग्रामीण अँचलों में हर एक ग्रामीण के मुख में सुरक्षित है ।"§4§

---

§1§ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डॉ. शम्भूनाथ सिंह, पृ. सं. 320.
§2§ काव्य कला और अन्य निबंध - जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ सं. 114.
§3§ जार्ज ग्रियर्सन - द लौंग ऑफ आल्हा मेरिज §ए भोजपुरी एपिक इन्डियन एन्टी-क्वेरी§ भाग-14, पृ. 209.
§4§ महाकवि जगनिक कृत लोकगाथा काव्य आल्हा-सिलाकारी, §सागर बुंदेली शोधपीठ§ पृ. 15-19.

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सुनिश्चित हो जाता है कि "आल्हखंड" एक विकसनशील लोक महाकाव्य है क्योंकि इसकी मूलकथा में अनेक ऐतिहासिक व कल्पित कथाएँ जुड़ती रही हैं जिसके फलस्वरूप यह गाथा से गाथाचक्र और फिर गाथा-चक्र से विकसित होता हुआ लोक महाकाव्य के रूप में परिवर्तित हो गया । "परमाल रासो" को लोक महाकाव्य कहने का एक कारण यह भी है कि यह विकसनशील होते हुए भी महाभारत, रामायण और पृथ्वीराज रासो जैसा महाकाव्य नहीं है, क्योंकि इनका विकास शिष्ट-शिक्षित वर्ग के बीच हुआ और परमाल रासो अशिक्षित और सामान्य जनता के बीच विकसित हुआ ।

"परमाल रासो" की लोक महाकाव्य के रूप में अर्थवत्ता स्वीकार करने के लिए, उसकी विकसनशील लोक महाकाव्य के धरातल पर समीक्षा करना आवश्यक होगा ।

उद्देश्य और प्रेरणा शक्ति :-

महाकाव्य का प्रधान लक्षण उसकी महत्प्रेरणा और उद्देश्य होता है । आल्हखंड विकसनशील महाकाव्य होने के कारण, उद्देश्य का वह रूप दिखाई नहीं पड़ता जो अलंकृत महाकाव्यों में होता है । चूंकि इसका विकास लोकगाथा से हुआ है, अतः जिस प्रकार लोकगाथाओं में मनोरंजन के अतिरिक्त कोई अन्य प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होता, उसी प्रकार परमाल रासो का उद्देश्य भी प्रत्यक्षतः तो मनोरंजन ही है । परन्तु परोक्ष रूप से वीरता की भावना को प्रबुद्ध और पुष्ट करना ही उसका लक्ष्य है । प्रस्तुत लोककाव्य की अधिकांश वर्णनाएँ वीरता व जौहर से सम्बन्ध रखती हैं । परमाल रासो में आल्हा-ऊदल तथा अन्य वीरों के युद्धों का जो वर्णन मिलता है वह प्रमुखतः सामंती वीर युग की वस्तु है । उस युग में वैयक्तिक वीरता, मान-मर्यादा और शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन का ही सर्वाधिक महत्त्व था । समूचे आल्हखंड में अधिकांशतः इन्हीं बातों का वर्णन और चित्रण हुआ है । अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रंथ में सामंती वीर युग की वीर-भावना ही निहित है और उसी का उद्रेक करना उसका उद्देश्य है ।

अनेक युग परिवर्तनों के बाद भी परमाल रासो की लोकप्रियता न केवल बनी रही, बल्कि उसका दूर-दूर तक बहुत अधिक प्रचार भी हुआ । यह इस बात का प्रमाण है कि उसका उद्देश्य किसी एक युग के लिए उपयोगी नहीं था, बल्कि परवर्ती

युगों की सामान्य भारतीय जनता को प्रेरित और आकृष्ट करना था । इसका मुख्य कारण मानव मात्र के हृदय में निहित वीर पूजा की प्रवृत्ति ही है । आल्हखण्ड की वर्णनाएँ आज भी उदासीन मानव में चेतना और नवीन जीवनशक्ति का संचार कर, उसे कुछ कर गुजरने की प्रेरणा प्रदान करती हैं । प्रथम महायुद्ध में सैनिकों में उत्साह, उमंग तथा जोश का संचार करने के लिए आल्हा गवाया जाता था । इससे वीरोचित कार्यों के लिए अदम्य प्रेरणा मिलती है ।

वीरपूजा की प्रवृत्ति प्रत्येक युग के समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है । कभी उसका स्वरूप वैयक्तिक होता है, कभी जातीय और कभी राष्ट्रीय । सामंती वीर युग की वीरता वैयक्तिक होती थी । अतः इस युग की वीर प्रवृत्ति की पूजा का स्वरूप भी वैयक्तिक होता था । कहने का तात्पर्य यह है कि जब कोई युवक अतिशय शारीरिक शक्ति और पराक्रम का प्रदर्शन करता था, तो वह उस युग में आदर और गौरव का अधिकारी माना जाता था और समस्त समाज उसे राजाओं, विद्वानों और संतों से भी अधिक सन्मान प्रदान करता था । ऐसे युग में वीरों का जीवन-चरित्र शीघ्र ही निर्जरी स्वरूप धारण कर लेता था और उनके सम्बन्ध में नाना-प्रकार की अतिशयोक्ति-पूर्ण आनुश्रुतिक कथाएँ प्रचलित हो जाती थी ।

परमाल रासों वीरपूजा की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वश्रेष्ठ लोक काव्य है । वह न तो रासो की तरह का जातीय काव्य है, न रामचरित मानस की तरह राष्ट्रीय और सांस्कृतिक काव्य । यह तो विशुद्ध वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का काव्य है । इसका उद्देश्य मनोरंजन करना तथा उसी के माध्यम से वीरपूजा की प्रवृत्ति को जाग्रत करना और वीरभावना का संचार करना है । यह उद्देश्य परमाल रासो की अपनी सीमाओं और संकीर्णताओं के होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । अतः अपने इस उद्देश्य की महत्ता और सहज-सरल प्रेरणा-शक्ति की तीव्रता तथा व्यापकता के कारण, प्रस्तुत रासो काव्य महाकाव्य के पद का अवश्य अधिकारी है ।

इतिहासोद्भाषित कथावृत :-

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होना चाहिए, ऐसी भारतीय विद्वानों की महाकाव्य के संदर्भ में मान्यता है । परमाल रासो का कथानक ऐतिहासिक पृष्ठ-

भूमि पर ही लिखा गया है । इसमें तीन राजवंशों की पारस्परिक संघर्षों की गाथा वर्णित है । ये हैं— कन्नौज के गहरवार राठौर, दिल्ली के चौहान और महोबा (कालिंजर) के चन्देल । आल्हा, जो कि इस महाकाव्य के नायक हैं, चंदेल शासकों के ही प्रधान सेनापति थे । इस लोक महाकाव्य में चौहान-चंदेलों के युद्धों का अनिष्टकारी भीषण परिणाम और संहार दिखाया गया है । इस संघर्ष की पुष्टि तत्कालीन शिला लेखों, ऐतिहासिक ग्रंथों और ऐतिहासिक खोजों से होती है ।(1)

आल्हखंड में वर्णित प्रमुख पात्र सामान्यतः ऐतिहासिक ही हैं । यथा— पृथ्वीराज चौहान, परमर्दिदेव (परमाल), जयचंद, आल्हा-ऊदल इत्यादि । उसी प्रकार प्रमुख स्थानों के नाम भी ऐतिहासिक ही हैं । जैसे— कन्नौज, दिल्ली, महोबा, माड़ौ, कीरत सागर, मदन सागर, कालिंजर का किला आदि ।

अस्तु, परमाल रासो का कथानक पूर्णतः ऐतिहासिक वृत है, जिसमें लेखक की मौलिक परिकल्पनाएँ भी हैं । यह कल्पनाएँ अनेक पात्रों एवं घटनाओं का सृजन करने में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं । किन्तु उससे ऐतिहासिक घटनाओं और प्रसंगों में किसी प्रकार का व्याघात नहीं हुआ है ।

आज के शंकालु परिवेश में अनेक घटनाओं की ऐतिहासिकता पर संदेह किया जा सकता है फिरभी यह निर्विवाद सत्य है, कि आल्हाकाव्य में वर्णित चौहान-चंदेल युद्ध को ऐतिहासिक घटना मानकर परमाल रासो को विशुद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य या लोक महाकाव्य घोषित किया जाए, उपयुक्त नहीं होगा । समय के प्रवाह में इतिहास के साथ-साथ विभिन्न काल्पनिक घटनाएँ भी काव्य में समाहित हो जाती हैं और फिर कल्पना तत्व काव्य का एक प्रमुख तत्व है ।

कवि-हृदय के लिए यह आवश्यक नहीं होता है कि वह ऐतिहासिक घटनाओं का यथातथ्य चित्रण करें । विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि— "लेखक चाहे इतिहास को अखण्ड रूप में रखकर रचना करे, चाहे तोड़-फोड़कर, यदि वे ऐतिहासिक तत्व की अवतारणा कर लेते हैं, तो उन्हें अपने उद्देश्य में कृतकार्य समझना

---

(1) (क) आर्कोलोजीकल सर्वे रिपार्ट, भाग-21, पृ. 174.
(ख) ईश्वरी प्रसाद - ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ. 71-72.
(ग) मदनपुर की बारहदरी के शिलालेख, सागर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ. 16-17.

चाहिए ।"§1§ इस दृष्टि से आल्हखंड के कथानक में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन प्रयोग हुआ है । अतः उसे ऐतिहासिक कृति न मानकर ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया महाकाव्य ही मानना चाहिए ।

गुरुतापूर्ण, गंभीर एवं उदात्त वृत :-

सामान्यतया गुरुत्व और गाम्भीर्य का अर्थ पांडित्य, व्यापक ज्ञान तथा दार्शनिक चिंतन समझा जाता है । यदि यह धारणा सही है तो ग्रामीण अशिक्षित जनता के जीवन को गुरुता और गंभीरता से शून्य मानना पड़ेगा । गुरुत्व और गाम्भीर्य की माप विद्या और दार्शनिक ज्ञान ही नहीं है, बल्कि हृदय तत्व की ऊँचाई, व्यापकता और गहराई भी है ।

"परमाल रासो" में लोक हृदय की एक प्रधान प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है । वह प्रवृत्ति वीरता और साहस की है । इस अभिव्यक्ति में गहराई, ऊँचाई और व्यापकता का अभाव नहीं है । सुशिक्षित नागरिक उच्चवर्गीय साहित्य पाठन के अभ्यस्त होते हैं, अस्तु वे लोक काव्य की उपेक्षा और अनादर करते हुए उस पर अपरिपक्वपन और ग्राम्यता का आरोप लगाते हैं । उनका कहना है कि आल्हखण्ड में पांडित्य-प्रदर्शन, शब्द-कौशल, अलंकृतता एवं जीवन विधियों का घटाटोप नहीं है । ये सामान्यतः बाह्य बातें है । यदि किसी काव्य में हृदय तत्व की गहराई, गंभीरता और व्यापकता न हो तथा मात्र पांडित्य-प्रदर्शन एवं अन्य कौशल हों, तो भी वह महाकाव्य नहीं माना जा सकता ।

परमाल रासो का कलेवर प्रधानतः युद्धों और विवाहों के वर्णनों से अभिभूत है । युद्ध और योद्धा प्रत्येक युग में होते आए हैं किन्तु लोकचित्त पर आल्हा-ऊदल आदि वीरों की जैसी अमिट छाप पड़ गई है वैसी बड़े-बड़े वीरों-महाराणा प्रताप, शिवाजी और रानी लक्ष्मीबाई आदि की भी नहीं पड़ी । इसका कारण यह है कि आल्हखंड के वीरों में जिस वीरता की प्रतिष्ठा हुई है, वह असामान्य और अति-मानवीय है । साहस, शारीरिक शक्ति, जन्मभूमि का प्रेम, परिवार-प्रेम, राजभक्ति, जातीय सम्मान की भावना, आत्माभिमान आदि जिन गुणों के वे आश्रय हैं वे उनमें चरम मात्रा में दिखाए गए हैं । उपर्युक्त गुणों की अभिव्यक्ति आल्हखंड के पात्रों में

---

§1§ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास - डॉ॰ शंभूनाथ सिंह, पृ॰सं॰ 119.

इस सीमा तक हुई है कि वे सामान्य जन से ऊपर उठे दिखाई देते हैं । हम अपने ज्ञान और आडम्बर-पूर्ण जीवन से हटकर, आश्चर्य और कौतूहल से उनके असाधारण व्यक्तित्व, निर्भय साहस, मृत्यु की सहज उपेक्षा और चमत्कार पूर्ण कार्यों को अपनी मनोदृष्टि से देखते रह जाते हैं । ऐसे महान वीर और विचित्र साहसी पात्र पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त संभवतः हिन्दी के अन्य किसी वीर काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होंगे । अतः उनकी इसी महत्ता ने परमाल रासो को गुरुत्व प्रदान किया है । उनके हृदय में उत्साह का जो समुद्र लहराता है उसी का गाम्भीर्य इस लोक महाकाव्य का गांभीर्य है । वीर-चरित्रों की जीवंतता तथा कर्मशीलता के कारण ही आल्हखंड की महत्ता प्रतिपादित हुई है ।

लोक महाकाव्यों को यदि हम अलंकृत महाकाव्यों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित करेंगे, तो उनमें कौशल, विचार-वैभव, गुरुत्व व शिल्प का अभाव ही पाएंगे । परमाल रासो सच्चे अर्थ में एक विकसनशील लोक महाकाव्य है, अतः अलंकृत महाकाव्यों के लक्षणों की अपेक्षा करना अनुचित होगा ।

परमाल रासो या आल्हखंड का कथावृत भव्य, उदात्त और लोकोत्तर है । इसमें सामंती जीवन, राजपूतानी शौर्य, बलिदान, योगियों और यक्षणियों के चमत्कार रण बाँकुरे वीरों की हुंकार तथा तंत्र-मंत्र आदि को लेकर चलने वाली लोक संस्कृति का विस्तृत विवरण मिलता है । परमाल रासो के वीर और उनकी वीरत्व- पूर्ण भावना हमारी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक बन गई है । राज्य-रक्षार्थ एवं निर्बल की सहायतार्थ प्राण उत्सर्ग करने की भावना और स्वामी के प्रति स्वामिभक्ति का भाव इस महाकाव्य का मुख्य लक्ष्य दर्शाया गया है । अपने स्वामी का नमक हलाल करने का प्रण इन वीरों का मुख्य लक्ष्य बन गया है । इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए वे सदैव तत्पर परिलक्षित होते हैं । उनके इन गुणों से पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रह पाता ।

डॉ. भगीरथ मिश्र के शब्दों में-- "मंद, गंभीर एवं द्रुत लयों में आल्हाकाव्य की घटनाओं और प्रसंगों का वर्णन जिसने आल्हा-गायकों के मुख से सुना है, वह निश्चित रूप से रोमहर्षित और गलितश्रु हुआ होगा ।"§1§

---

§1§ महाकवि जगनिक और उनका लोकगाथा काव्य आल्हा - लोकनाथ सिलाकारी §प्रस्तावना उद्धृत डॉ. भगीरथ मिश्र§, पृ. सं. 6.

प्रस्तुत काव्य उनके विचार से लोक-भावनाओं और संवेदनाओं को झकझोरता हुआ उद्दीप्त करता चलता है । आल्हा में कहीं-कहीं अलौकिकता आ गई है । जादुओं का प्रयोग, आल्हा के शरीर से दूध की धार निकलना, गजमोतिन की मृत्यु उपरान्त आभा बोलना, स्वर्गीय दस्सराज की छाया का बोलना आदि अलौकिक एवं मानवेतर कार्य हैं, इससे रासो काव्य का कथानक भव्य एवं लोकोत्तर हो गया है । समीक्षात्मक दृष्टि से काव्य और कल्पना दोनों न्यूनाधिक रूप से एक दूसरे पर आश्रित हैं । कथानक की रोचकता का आधार बिन्दु कल्पना ही हुआ करती है । अतः भावों की गुरुता एवं गंभीरता तथा कथानक की उदात्तता परमाल रासो में हर दृष्टि से विद्यमान है ।

कथानक की योजना :-

परमाल रासो का कथानक पृथ्वीराज रासो के कथानक से मिलता-जुलता है । दोनों ही काव्यों में कथानक शिथिल, विशृंखलित और खण्डों में विभक्त है, परन्तु दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पृथ्वीराज रासो वर्णनात्मक काव्य है और आल्हखंड कथात्मक । यद्यपि दोनों विकसनशील हैं परन्तु एक का विकास दरबारी जीवन में शिष्ट नागर-वातावरण में हुआ और दूसरे का लोक जीवन के आडंबर-शून्य वातावरण में । लोकरुचि कथाप्रवाह और भाव-धारा में रमती है, वह वस्तु-वर्णन और परिगणना द्वारा ज्ञान-प्रदर्शन से दूर भागती है । मौखिक परंपरा में बहुत लम्बे कथानक का विकास संभव नहीं है, वहाँ तो ऐसे काव्यों का विकास संभव है जो या तो एक-दो रात में गाए जा सकें या जिनके कई खण्ड हों । यह खण्ड अपने में बहुत कुछ स्वतंत्र हो । यदि प्रधान पात्र सभी खण्डों में आता है तो रुचि और भी बढ़ जाती है क्योंकि नई कथा में पुराने पात्रों के शील-निरूपण और कार्य-चमत्कार सुनने को मिलते हैं।

यही कारण है कि परमाल रासो में कहीं 23 कहीं 52 लड़ाइयों का वर्णन मिलता है, उन सब का इस काव्य में अन्तःसम्बन्ध है तथापि स्वतंत्र स्थान है । समग्र परमाल रासो में संयोगिता-हरण और परमाल के विवाह से सम्बन्धित युद्धों को छोड़कर अन्य सब में आल्हा-ऊदल तथा अन्य बनाफर वीरों के चरित्र महत्वपूर्ण है ।

इस प्रकार परमाल रासो एक गाथाचक्र है जिसमें एक परिवार के कुछ व्यक्तियों- आल्हा, ऊदल, इन्दल, मलखान को प्रधान पात्र बनाकर तथा अन्य वीरों-

ताल्हन सैयद, लाखनराना, ढेबा, जगनिक, रमनबारी आदि को उनके सहायक बनाकर अनेक गाथाएँ जोड़ी गई हैं । गाथाचक्र का अभिप्राय ही है कि उसमें कुछ पात्र तो सब गाथाओं में आवें तथा अन्य पात्र प्रत्येक गाथा में भिन्न-भिन्न हों । इस दृष्टि से पृथ्वीराज रासो में भी गाथाचक्र के कुछ लक्षण दिखाई पड़ते हैं । आल्हखण्ड में यद्यपि कथानक का विकास-क्रम, उसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता अर्थात उसकी कथा आदि से अन्त तक धारा प्रवाह के रूप में नहीं, खंडित और विशृंखलित रूप में ही है । परन्तु कुछ पात्रों के जीवन से सम्बद्ध प्रसंग प्रत्येक कथा में दृष्टिगोचर होते हैं और उनमें ऊदल ही सबसे बड़ा योद्धा है जो सर्वत्र अपना पराक्रम दिखाता है ।

लोक-कथाओं ने साहित्यिक महाकाव्यों और कथा-आख्यायिकाओं के स्वरूप को बहुत अधिक प्रभावित किया है । पंचतन्त्र और जैन-धर्म कथा-ग्रंथों की कथाएँ भी इसी प्रकार बहुत क्षीर्ण सूत्र से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । कथा सरित्सागर और कादम्बरी में भी मूल कथा के भीतर कथाएँ (उप-कथाएँ) पिरोई मिलती हैं । कुछ आख्यायिकाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें कई कथाओं का स्वतंत्र अस्तित्व प्रतीत होता है, परन्तु कुछ पात्रों का अस्तित्व प्रत्येक कथा में दिखाई देता है। अस्तु, लघु कथाएँ (स्वतंत्र) एवं उप-कथाएँ मिलकर एक लम्बे कथानक को व्यापक रूप प्रदान करती हैं परन्तु उनका सम्मिलित प्रभाव एक होता है ।

महाकाव्य के कथानक का विस्तार प्रायः लम्बा होता है क्योंकि उनमें बहुधा पात्रों के समूचे जीवन की कथा वर्णित होती है । इसलिए आचार्यों ने महाकाव्य का यह लक्षण माना है कि उसमें कम से कम आठ सर्ग होना चाहिए । आल्हखण्ड की लड़ाइयों को यदि अलग-अलग सर्ग माना जाए तो वह 23 या 32 अथवा 52 सर्गों का महाकाव्य कहा जाएगा । उसमें आल्हा-ऊदल के माता-पिता की संक्षिप्त जीवन-कथा और परमाल के विवाह के बाद आल्हा, ऊदल, मलखान, ब्रह्मा आदि के जन्म से लेकर उनकी मृत्यु तक का जीवन-वृत, जो प्रधानतः युद्ध और विवाह की घटनाओं से भरा हुआ है । निरंतर विकसित होने के कारण आल्हा-ऊदल की जीवन-कथा के अतिरिक्त अनेक अनपेक्षित कथाएँ भी इसमें जुड़ गई हैं जिससे कथानक बहुत लम्बा हो गया है ।

"परमाल रासो" के कथानक में अनेक कथा-रूढ़ियों का समिश्रण किया गया है,

जैसे- जादू की लड़ाई, चमत्कारिक वस्तुएँ, पूर्व जन्म की स्मृति, रूप-गुण-श्रवण जन्य प्रेम, पशु-पक्षियों द्वारा संदेश प्रेषण, रूप एवं वेशभूषा अथवा वेश परिवर्तन, साहसिक कार्य करने के लिए बीड़ा उठाना आदि । इन कथा-रूढ़ियों के समावेश से कथानक को अधिक विस्तार मिला है परन्तु महाकाव्य की अनैतिहासिकता और कल्पनाशीलता को बढ़ावा मिला है ।

अनगिन गायकों द्वारा विकसित होने के कारण प्रस्तुत ग्रंथ के कथानक में कलात्मक विकासक्रम, सुनियोजित श्रृंखला-बद्धता और आवश्यक-अनावश्यक कथावस्तु का चुनाव आदि गुण दृष्टिगोचर नहीं होते, परन्तु लोक महाकाव्य होने के कारण उसके ये दोष,दोष नहीं माने जा सकते ।

महत्कार्य और समग्र जीवन का चित्रण :-

महत्कार्य की सिद्धि और युग विशेष के समग्र जीवन का पूर्ण चित्रण भी महाकाव्य का एक लक्षण है । यह लक्षण लोक महाकाव्य पर उतना लागू नहीं होता, जितना अलंकृत महाकाव्यों या साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यों पर लागू होता है ।[1] परमाल रासो में यह दोनों तत्व आंशिक रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं । यह एक दुखान्त महाकाव्य है जिसका अंत महाध्वंस में हुआ है । लोक काव्य के अन्त में महाराज पृथ्वीराज, चन्द, आल्हा और इन्दल को छोड़कर अन्य सभी पात्र काल-कवलित हो जाते हैं । आल्हा और इन्दल गुरु अमरनाथ के साथ कजरीबन चले जाते हैं । "परमाल रासो" का नायक यदि आल्हा को माना जाय, तो उसकी मृत्यु नहीं होती । इस दृष्टि से यह रासो ग्रंथ दुखान्त और सुखान्त दोनों है । भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसमें महत्कार्य की सिद्धि पूर्णतया नहीं होती, किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से दुखान्त होने के कारण उसमें प्रभावान्वित और गंभीरता पूर्णतः परिलक्षित होती है । अतएव इसे ही इस काव्य का महत्कार्य मानना चाहिए ।

महाकाव्य के लक्षणों में आलंकारिकों ने कहा है कि- उसमें युद्ध, विवाह, पुत्रोदय, मंत्रणा, राजकाज, जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, पान-गोष्ठी, विजय-पराजय, यज्ञ, मृगया, युद्ध प्रयाण, संयोग और विप्रलंभ आदि कार्य-व्यापारों तथा नगर, शैल, वन, सिन्धु, सरिता, प्रभात, रात्रि, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन

---

[1] हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास - डॉ. शम्भूनाथ सिंह, पृ. 372.

होना चाहिए ।[1] इस कथन का तात्पर्य यही है कि महाकाव्य में समग्र-जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण होना चाहिए । परमाल रासो में प्रकृति-वर्णन के अनेक चित्र प्रस्तुत किए गए है, उनकी बाहुल्यता का अभाव भले ही हो । अधिकांशतः प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन के रूप में सामने आए हैं । यथा :-

नदी बेतवा तुमको ध्यावों, निर्मल बहे दूध की धार ।
लहर-लहर के तेज ओज पै, धारे कोटि वीर तलवार ।
जहाँ समीरन की बीना पै, साजि चन्द किरनन के तार ।
बन की देवी सुर मेघन ते, बरसाती है राग मल्हार ।[2]

वियोग के समय विरहिणियों को प्रकृति किस प्रकार संवेदन-शील प्रतीत होती है, उसका चित्र द्रष्टव्य है :-

बरसा बीति शरद ऋतु आई, जाने कौन काज रहे छाय ।
रैनि बड़ी है शरद निशा की, तापर पवन रही सन्नाय ।
मोहि डर लागत मोर-शोर सुनि, काले मेघ काल सम होय ।
सुखद रैनि तिनकों जाड़े में, जो नित कंत रही हिय लाय ।[3]

कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन अलंकारिक रूप में प्रयुक्त हुआ है । यथा :-

बादल गरजै ज्यों भादों में, बिजली कड़कि-कड़कि रहि जाय ।
ऐसे गरजे बनरस वाले, बनता वरन करी न जाय ।[4]

तथाकथित प्रकृति-चित्रण को दृष्टिगत रखते हुए यह कहने में संकोच न होगा, कि आल्ह-खंड में प्रकृति-वर्णन महाकाव्य की गरिमा के अनुकूल नहीं है ।

मानव जीवन की वैविध्यता अथवा समग्रता की शृंखला में प्रस्तुत लोक महा-काव्य में विवाह, युद्ध, प्रयाण, मंत्रणा, मृगया आदि के चित्रण पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं । विवाह और युद्ध तो इस ग्रंथ का कलेवर ही हैं । विवाह के संदर्भ में विविध औपचारिकताएँ जैसे- टीका भेजना, ऐपन बारी भेजना, गौना और चौथ की प्रथा, सती होने की प्रथा, योगी और उनके कार्य, कजरी का त्यौहार, धोखा और चुगली,

---

[1] वही : पृ. 374.
[2] आल्हखंड - खेमराज, [नदी बेतवा की लड़ाई], पृ. 681-82.
[3] वही : " [अम्मारगढ़ की लड़ाई], पृ. 713.
[4] वही : " [महोबा की लड़ाई], पृ. 73.

योगी और नृत्य, विभिन्न वाद्य यंत्रों का वादन, मंत्र-तंत्र का प्रदर्शन, जादू व मंत्र-युद्ध आदि जीवन की समग्रताकेपरिचायक हैं । सामाजिक लोक परंपराएँ दान, दहेज, विदाई, ज्यौनार आदि के वर्णन पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं ।

इस विकसनशील लोक महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि ने ईश्वर, देवी, गुरु, विप्र, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की वंदना की है । इसके अतिरिक्त ज्ञानियों में सनक सनन्दन, वीरों में भीष्म पितामह, प्रेमियों में कृष्ण, ऋषियों में कपिलदेव, कीशों में हनुमान, धामों में जगन्नाथ, पुरियों में काशी, दानियों में महाराज हरिश्चन्द्र, भक्तों में प्रहलाद आदि के साथ-साथ सूर्य, सरस्वती, वेदव्यास, नारद, गंगा आदि की स्तुति की गई है जो मानवीय जीवन की समग्रता का प्रमुख अंश है ।

पं. द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी जी ने विकसनशील लोक महाकाव्य- आल्हखंड की समग्रता के संदर्भ में कहा है कि- "यदि इस काव्य के कथानक को ही एक-दो बार पढ़ने का कष्ट उठावें तो इस काव्य का केवल ऐतिहासिक महत्व ही नहीं, प्रत्युत 12वीं शताब्दी के भारतवासियों की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों की जानकारी सहज ही में प्राप्त कर सकेंगे । तभी इस काव्य की उपादेयता और इसका महत्व भी अपने आप प्रतीत हो जाएगा ।"§1§

आल्हखण्ड में न केवल नायक, अपितु अन्य पात्र जैसे- ऊदल, मलखान, ब्रह्मानंद, आदि के जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न, मानवीय जीवन के पहलुओं को उजागर किया है जो निःसंदेह युग-जीवन की समग्रता का भाव प्रस्तुत करते हैं ।

जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता :-

उत्कृष्ट महाकाव्य की वास्तविक कसौटी उसकी अक्षुण्ण और अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता होती है । आल्हखण्ड में वह अनवरुद्ध जीवनी शक्ति विद्यमान है । उसकी जीवन शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गत पाँच-छः सौ वर्षों से नाना प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों और ऐतिहासिक हलचलों के बीच से वह अबाध गति से अपना पथ बनाता और विकसित होता हुआ हमारे पास तक पहुँच सका है । विकसनशील महाकाव्यों में विकास करने की जो क्षमता होती है वही उनकी जीवनी शक्ति है । यदि वे मृत और जड़ीभूत होते तो उनमें विकास होता ही नहीं

---

§1§ आल्हा §आल्हा की कथा§ भूमिका - द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, प्रयाग, 1940, पृ. 3.

या यदि कुछ विकास होता भी तो आगे चलकर रुक जाता । इस दृष्टि से आल्हखण्ड अत्यन्त सजीव महाकाव्य है । उसके विकास का क्रम आजभी जारी है । जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि परमाल रासो का मूल रूप बुन्देलखंड में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ होगा । तब से उसके रूप में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं, उसकी कलेवर-वृद्धि हो चुकी है और भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके उसका प्रचार-प्रसार समस्त उत्तर भारत में हो गया है । यही नहीं, अंग्रेजी में उसका अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है और इस तरह इस लोक-काव्य की ख्याति विदेशों तक पहुँच चुकी है । अतः उसमें कुछ ऐसे महान और जीवंत तत्त्व अवश्य हैं जिनके कारण उसको इतनी लोकप्रियता और ख्याति मिल सकी है ।

अनबद्ध जीवनी शक्ति के अतिरिक्त आल्हखण्ड में वह सशक्त प्राणवत्ता भी है जो किसी महाकाव्य को अमरता प्रदान करती है । अनेक लोककथाएँ और लोक-गाथाएँ जीवनी शक्ति से युक्त तो होती हैं, परन्तु उनमें वह प्राणवत्ता नहीं होती जो हजारों-लाखों व्यक्तियों के जीवन को बल और प्रेरणा प्रदान कर सकें । गीति-काव्य और खंडकाव्य के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । आल्हखण्ड में वह प्राणमयता, ओजस्विता और अदम्य वेग है जिससे श्रोताओं की सूखी नसों में उष्ण रक्त का संचार होने लगता है, उनमें साहस, उमंग, उल्लास और सक्रियता उत्पन्न होती है । इस तरह आल्हखण्ड एक ओर तो समाज के अजस्त्र जीवन-स्त्रोत से शक्ति ग्रहण करता है और दूसरी ओर समाज को उतनी ही शक्ति और प्रेरणा भी प्रदान करता है । वस्तुतः वह समस्त समाज की रचना है । सामान्य जनता में रामायण और महाभारत के बाद जातीय काव्य के रूप में तुलसी के रामचरित मानस और जगनिक के परमाल रासो का ही स्थान है । जातीय काव्य से तात्पर्य यह है कि उसे समूचे समाज ने अपनाया है और युगों से उससे शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करता आ रहा है । सामाजिक जीवन की उद्दाम जिजीविषा, प्रचंड वेग और अखंड प्रवाह इस रासो ग्रंथ में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है । उपर्युक्त तत्त्व इस लोक महाकाव्य की सशक्त प्राणवत्ता को व्यक्त करते हैं । अतः जब तक जीवन है और जीवन में वीरता तथा शक्ति-पूजा का महत्त्व है, तब तक आल्हखण्ड की ये पंक्तियाँ भी निरन्तर गूँजती और मुर्दों में प्राण फूँकती रहेंगी :-

सदा तोरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय ।

सदा न माता उर में धारे, यारो जनम न बारम्बार ।§1§

अथवा :-

मानव देही यह सुर्लभ है, यारो जनम न बारम्बार ।
जैसे पात टूटि तरुवर से, गिरि के बहुरि न लागे डार ।§2§

प्रभावान्विति और रसवत्ता :-

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि अरस्तु महोदय ने महाकाव्य में प्रभावान्विति और भाव-व्यंजना को अधिक महत्वपूर्ण माना है । उन्होंने श्रम-साध्य अलंकृति को महाकाव्य के दोषों को छिपाने का साधन मात्र कहा है । इस दृष्टि से आल्हखण्ड में अलंकृति का अभाव दोष नहीं माना जाएगा क्योंकि महाकाव्य के प्रधान तत्व-प्रभावान्विति और रसवत्ता- उसमें पूर्ण मात्रा में वर्तमान हैं । उसमें भाव-व्यंजना की वह शैली नहीं अपनायी गई है जो अलंकृत महाकाव्यों में होती है । अलंकृत महाकाव्यों में भावों का सूक्ष्म विवेचन, अध्ययन और उद्घाटन किया जाता है अर्थात उनमें भावों की गहराई और वस्तुओं का सूक्ष्म निरीक्षण होता है ।

आल्हखंड या परमाल रासो में अशिक्षित और ग्रामीण जनता के हृदय के सरल और सहज भावों को सीधे ढंग से, परन्तु बहुत ही तीव्रता और शक्ति से समन्वित करके अभिव्यक्त किया गया है । उसमें उत्साह और रतिभावों की ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति हुई है, तथा उनके विभिन्न अनुभावों और संचारी भावों को चित्रित कर, सचेष्ट प्रयत्न किया गया है । इस रासो ग्रंथ में सामन्ती युगीन सामान्य जनता के प्रमुख भावों की सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति हुई । इसमें क्रोध, उत्साह, घृणा, भय, प्रतिशोध, रति आदि भाव सरल किन्तु सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुए हैं । प्रेम की भावना का भी सहज व स्वाभाविक चित्रण मिलता है । प्रिय मिलन की तीव्र लालसा और प्रेम की चरम परिणति इन शब्दों में देखिए :-

कारी बदरिया तुमको सुमरौं, कौंधा वीरन को बलि जाऊँ ।
झमकि के बरसो तुम अंटा पर, कंता आजु रैनि रहि जाएँ ।§3§

हालांकि वीररस सर्वत्र छाया हुआ है, चूंकि यह वीर काव्य है ही परन्तु शृंगार,

---

§1§ आल्हखण्ड : शोध और समीक्षा - डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 79-80.
§2§ माड़ौं की लड़ाई : कुँवर अमोलसिंह, पृ. सं. 137.
§3§ लघु आल्हखण्ड - पं. सीताराम, पृ. सं. 670.

करुण, रौद्र एवं भयानक आदि रसों का परिपाक सहायक रसों के रूप में हुआ है। आल्हखण्ड की ओजस्विता और रसवत्ता के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र कहते हैं, कि- "
"आल्हखंड में वीरभावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे गायक, संगीत की गरिमा के साथ गाते हैं, तब दुर्बल व्यक्ति में भी तलवार चलाने की स्फूर्ति आ जाती है।"§1§

अतः यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है, कि इस काव्य में वीर-भावनाओं को उत्तेजित करने की जितनी अधिक क्षमता है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। परमाल रासो की प्रत्येक लड़ाई में यह प्रभाविष्णुता दिखाई भी पड़ती है और समूचा काव्य इसी भाव की पुष्टि करता है।

परमाल रासो के कथानक में विभिन्न लड़ाइयों का वर्णन होने के कारण कभी-कभी यह शंका होती है, कि इसका समग्र प्रभाव उतना नहीं होगा जितना कि प्रत्येक सर्ग या लड़ाई का होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यदि लगातार कई दिनों तक बैठकर किसी आल्हा गायक से पूरा आल्हखण्ड सुना जाए अथवा प्रकाशित आल्हखण्ड आद्यांत पढ़ा जाए तो समग्र प्रभाव उतना ही समन्वित रूप में और तीव्र गति से पड़ता है, जितना किसी श्रृंखलित कथानक वाले अलंकृत महाकाव्य का होता है।

जिस तरह महाभारत-रामायण के नायक अपना अमिट प्रभाव पाठकों पर छोड़कर निजन्धरी व्यक्तित्व बन गए हैं, उसी तरह आल्हखण्ड के नायकों को निजंधरी ऊँचाई तक ले जाने में इस रासो ग्रंथ की प्रभावान्विति का बहुत अधिक सहयोग है। आद्यान्त व्याप्त सक्रियता, शक्ति, साहस और जीवंतता के कारण परमाल रासो का प्रभाव अत्यंत समन्वित, तीव्र और स्थाई रूप से पड़ता है जो उसके महा काव्यत्व का एक महत्वपूर्ण प्रमाण है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा रस माना है। वे प्रभावान्विति को स्वीकार नहीं करते। अलंकारिकों के अनुसार महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और शांत में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और अन्य रस अंग या सहायक रूप में हो सकते हैं। अन्य रासो ग्रंथों की तरह परमाल रासो भी एक शक्तिशाली वीर काव्य

---

§1§ हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र, पृ. 56.

है और उसी तरह वह दुखान्त भी है । अतः भारतीय अलंकार-शास्त्र के अनुसार, फलागम की दृष्टि से उसे करुण रस का महाकाव्य माना जा सकता है क्योंकि उसका अन्त नायकों की पराजय, मृत्यु अथवा युद्ध-त्याग से होता है । किन्तु यह स्थूल दृष्टि कही जाएगी, कारण समूचे काव्य में वीररस आद्यान्त व्याप्त है । अतः करुण रस में पर्यवसात होने से ही वह करुण रस का नहीं हो सकता । वस्तुतः आल्हखंड के प्रधान रस का निर्णय उसके समग्र प्रभाव की दृष्टि से ही होना चाहिए । उसका समग्र प्रभाव वीररस का संचार करने वाला है । नायकों की मृत्यु के बाद भी वह प्रभाव बना रहता है । अतः इसे वीररस प्रधान महाकाव्य मानना ही समीचीन होगा । वीररस के बाद इस काव्य में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान श्रृंगार रस का है । किन्तु इस रासो ग्रंथ में श्रृंगार रस विलासिता पूर्ण और दरबारी वातावरण के बीच लिखे जाने वाले अलंकृत काव्यों जैसा रीतिबद्ध नहीं है । उसमें रति भाव के स्वस्थ और स्वाभाविक रूप का चित्रण हुआ है । सामान्यतया प्रस्तुत रासो काव्य में रतिभाव या अन्य किसी भाव का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, ये सभी भाव वीररस के सहायक या निमित्त बनकर आए हैं । आवश्यकता पड़ने पर कवि पराक्रमी योद्धा को नारी जाति की प्रणय-बंधन में परिबद्ध करने से नहीं चूकता । यथा :-

फुलवा रानी के दिखिबे कौं, उदल डारी नाक छिदाय ।§1§

या शांत रस का परिपाक—

सदा तोरैया ना बन फूले, यारो सदा न जीवन होय ।
सदा न माता उर में धारे, यारो जनम न बारम्बार ।§2§

इस प्रकार समग्र प्रभाव की अन्विति, तीव्रता और स्थायित्व के साथ-साथ वीररस की निष्पत्ति एक निष्ठ और गंभीर रूप में हुई है । इस दृष्टि से परमाल रासो अपने ढंग का हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य है ।

महत्वपूर्ण नायक व प्रति-नायक :-

भारतीय काव्य शास्त्रियों के अनुसार महाकाव्य का नायक किसी श्रेष्ठ कुल या वंश में उत्पन्न उदात्त, धीर एवं वीर होना चाहिए । परमाल रासो में आल्हा

---

§1§ नरवरगढ़ की लड़ाई - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 24.
§2§ बड़ा आल्हखण्ड - खेमराज, पृ.सं. 144.

को नायकत्व प्रदान किया जा सकता है । उनके नाम पर ही संपूर्ण लोक महाकाव्य का शीर्षक "आल्हखंड" दिया गया है । वह प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश चन्देल-नरेश परमाल के सेनापति हैं, जो धीर, उदात्त एवं महावीर है । आल्हखण्ड में कई स्थानों पर उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर का अवतार कहा गया है । यथा :-

मंडलीक नृप भूप युधिष्ठिर, जिनको भेष प्रगट संसार ।
प्रगट भये तोई आल्हा हवै, जिनकी रही अमर तलवार ।§1§

अथवा :-

धर्मराज प्रगटे आल्हा हवै, जिनकी खड्ग रही तलवार ।§2§

आल्हा अजेय नायक हैं जिनको कभी भी पराजय का मुँह नहीं देखना पड़ा । बावनगढ़ में विजय का पताका फहराने वाले आल्हा को देवी ने प्रसन्न होकर अचूक खाँड़ा§3§ प्रदान किया था, ऐसा माना जाता है । आल्हा की वीरता व विजय के संदर्भ में पं. सीताराम जी लिखते हैं, कि--

फतह बखानूँ नुनि आल्हा की, नौसै झंडा चलत अगार ।
सिंह रूप हवे जग में जनमे, गढ़ ठोकर सों दिए ठहाय ।
बावन गढ़ में शाखो कीन्हों, भई सहाय शारदा माय ।
ऐसे वीर सदा नहीं उपजें, तेहि ते शाखो देय सुनाय ।§4§

आल्हा को कहीं-कहीं श्रेष्ठ मानवीय रूप में चित्रित किया गया है । कहा जाता है कि हिंगलाज §देवी§ पूजन में आल्हा ने सर्वप्रथम देवी का पूजन किया था, परिणाम-स्वरूप देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें अमरता का वरदान दिया था । उनकी अमरता का रहस्य बेला सती-संग्राम में खुलता है । यथा :-

लगत तीर के भुजदंडनि में, निकसी तुरत दूध की धार ।
देखि हाल यह पृथ्वीराज तब, अपनो हाथी दियो हटाय ।§5§

आल्हाखण्ड के अन्त में कवि ने उन्हें गुरु गोरखनाथ के साथ कजरीबन जाते हुए चित्रित किया है । इस प्रकार परमाल रासो में महाकाव्य के नायक के रूप में आल्हा को

---

§1§ आल्हखंड - नारायण प्रसाद, संस्करण 1950, §प्रस्तावना§ पृ. 11.
§2§ वही : पृ. 6.
§3§ तलवार, तेगा §तीखी धार वाला तलवार की तरह का हथियार§.
§4§ आल्हखण्ड - परिमाल का ब्याह, पृ. 15.
§5§ बेला सती-संग्राम - कुँवर अमोलसिंह, पृ. सं. 38.

माना जा सकता है । जहाँ तक उच्च कुल का प्रश्न है, वहाँ आल्हा को बनाफर जाति का मानकर जगह-जगह "ओछी जात" बनाफरराय" कहकर लज्जित किया गया है । इस विषय में आधुनिक विद्वानों का मत यह है कि नायक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उच्च कुल का हो । सामान्य कुल का व्यक्ति भी महाकाव्य का नायकत्व प्राप्त कर सकता है परन्तु उसमें नायक की क्षमता होनी चाहिए ।

इसके विपरीत विचार धारा रखने वाले विद्वानों का विचार है कि- आल्हखंड के पात्रों में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका ऊदल की है, परन्तु काव्य का नाम आल्ह-खंड होने से यह अनुमान होता है कि इस काव्य का नायक पहले आल्हा रहा होगा और बाद में ऊदल के चरित्र को प्रधानता दे दी गई होगी । अन्यथा इस काव्य का नाम "ऊदलखण्ड" होना चाहिए । संभावना यह भी है कि इस महाकाव्य का नाम पहले बिल्कुल भिन्न रहा हो और उसका नायक भी संभवतः परमाल रहा हो और इसी लिए इस का नाम "परमाल रासो" दिया गया हो ।

परमाल रासो का आद्यान्त अवलोकन करने से यह विदित होता है कि इसका कोई एक नायक नहीं है, बल्कि आल्हा, ऊदल, मलखान, इन्दल ये चार पात्र सम्मिलित रूप से नायक हैं क्योंकि पूरे महाकाव्य में इनकी एक अहम् भूमिका रही है । महाभारत में भी पाँचों पाण्डवों को नायत्व प्रदान किया गया है । इस रासो ग्रंथ में ब्रह्मानंद, देवा, लाखन व ताल्हन सैयद को सहायक माना गया है । उसी प्रकार प्रति-नायक के रूप में पृथ्वीराज, धाँधू, चौंडा तथा पारथ को महत्वपूर्ण भूमिका के साथ वर्णित किया गया है । महाभारत में भी कृष्ण आदि महत्वपूर्ण सहायक है तथा दुर्योधन, भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि शक्तिशाली प्रति-नायक के रूप में चित्रित किए गए हैं ।"[1]

अलंकारिकों के अनुसार- आधिकारिक कथा के कार्य का फल प्राप्त करने का अधिकारी नायक होता है और अन्य पात्र सहायक माने जाते हैं । इस दृष्टि से आल्हखण्ड में मेरुदण्ड के रूप में कथा-शरीर को खड़ा करने वाले और पाठकों-श्रोताओं की सहानुभूति और प्रशंसा के अधिकारी बनाफर वंशी उपर्युक्त चारों वीर ही हैं, भले ही अन्तिम युद्ध में उनकी विजय नहीं होती । प्रासंगिक कथाओं में भी प्रधान भूमिका

---

[1] हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप - विकास : डॉ. शंभूनाथ सिंह, पृ. 383.

आल्हा-ऊदल की ही है । अतः पूरे महाकाव्य में शक्तिशाली बनाफर वंश विशाल वट वृक्ष की तरह अन्य पात्रों पर, यहाँ तक कि अपने आश्रय-दाता चन्देल वंश और राठौर (गहड़वार) वंश के वीरों परमाल, ब्रह्मा, जयचंद और लाखन के ऊपर छाया हुआ दिखाई पड़ता है ।

प्रस्तुत रासो ग्रंथ में नायक, सहायक तथा प्रतिनायकों और नारी पात्रों के चरित्र उनके अपने स्थान पर उत्तम है । आल्हा-ऊदल वीर रूप में अपना प्रभाव जमाते हैं तो माहिल चुगलखोर का प्रतीक बनकर आया है । राजा परमाल अस्त्र त्याग के बाद शक्ति-हीन नपुंसक के समान प्रतीत होते हैं क्योंकि वे आत्म-सम्मान का ध्यान न रखते हुए विरोधी पात्र (प्रति-नायक) पृथ्वीराज की सभी शर्तों को निर्विरोध स्वीकार कर लेते हैं । रानी मल्हना बड़ी कुशल, सूझ-बूझ से परिपूर्ण महिला पात्र के रूप में दर्शायी गई है । आल्हा-ऊदल के चले जाने के बाद वह राज-काज के कामों में अपने पति का हाथ बंटाती है, उन्हें नेक सलाह देती है । आल्हा-ऊदल की माँ देवल आदर्श माता और वीर क्षत्राणी के रूप में वर्णित है । उसके पुत्र उसकी बात को टालने का साहस नहीं कर पाते हैं । अन्य स्त्री पात्रों में फुलवा, सोनवा और बेला का चरित्र अन्य नारी पात्रों की तुलना में अधिक उभरा है । चित्तर लेखा, सोनवा और चिजैतिन आदि राजकुमारियाँ जादू-विद्या में पारंगत चित्रित की गई हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाल रासो जहाँ एक ओर साहित्यिक दृष्टि से महाकाव्य सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर लोककाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है । अतः इसे लोक महाकाव्य कहना अनुचित न होगा । वस्तुतः यह एक ऐसा प्रबन्ध काव्य है जिसकी जड़े एक ओर जनमानस के हृदय में गहराई तक पहुँच गई हैं, तो दूसरी ओर साहित्यकारों के लिए भी यह आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गई हैं । यही कारण है कि उत्तर भारत में "रामचरित मानस" के बाद "आल्ह-खण्ड" सर्वाधिक लोकप्रिय लोक महाकाव्य है । यह हमारी चौपालों का श्रृंगार है और हमारे इतिहास की हुंकार । यह काव्य मौखिक परंपरा में विकसित होकर "परमाल रासो" या "आल्हखण्ड" के रूप में प्राप्त है । जिस प्रकार मौखिक परंपरा की लोकगाथाएँ और लोकगीत सदैव परिवर्तित और परिवर्धित होते रहते हैं उसी प्रकार यह तथ्य आल्हखण्ड के संदर्भ में भी सत्य है, और इसीलिए इसे विकसनशील-लोक महाकाव्य माना गया है ।

परमाल रासो (आल्हखंड) के महाकाव्यत्व के संदर्भ में सर जार्ज ग्रियर्सन लिखते हैं कि- "वर्तमान समय में अन्य कोई महाकाव्य नहीं है, जो आल्हखण्ड के समान लोक में व्याप्त हो । यह महाकाव्य समस्त उत्तर भारत के पेशेवर अल्हैतों द्वारा गाया जाता है ।"(1) अस्तु, ग्रियर्सन महोदय के अनुसार भी परमाल रासो के महाकाव्यत्व की पुष्टि होती है ।

आल्हखण्ड या परमाल रासो की युद्ध-परक संस्कृति :-

महाकवि जगनिक ने चंदेल राजा परमर्दिदेव के शासन-काल की लोक-हर्षक युद्ध-घटनाओं को अपना काव्य-कलेवर बनाकर उक्त ग्रंथ में तत्कालीन युद्ध-संस्कृति का सजीव रूप प्रस्तुत किया है । कथा की सारतम्यता को बनाए रखने में कवि ने बुन्देली संस्कृति के अनेक अंगों को स्पर्श तो किया है, किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक संपूर्ण काव्य में युद्धों का ऐसा क्रमबद्ध वर्णन हुआ है, कि जिससे परमाल रासो युद्ध-काव्य बन गया है।

"संस्कारों के मूर्तिरूप को संस्कृति कहते हैं जिसकी व्यंजना वेश, भाषा, आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज से होती है ।"(2) संस्कार परंपरा से आते हैं । चंदेलों के राजत्व काल में चन्देलों और राजपूत-वंशों के साथ वंशानुगत युद्ध-प्रथा सक्रिय थी । उत्तर चन्देल युग में अन्य राजपूत वंशों के प्रति, इस वंश के शासकों की नीति अधिकतर उपचार की हो गई और सभी इस बात के लिए यत्नशील रहे कि परंपरा-निर्वाह के लिए युद्ध अबाध रूप से चलते रहें । प्रत्येक उत्तराधिकारी अन्य वंशों के साथ वही सम्बन्ध स्थापित करना अपना धर्म समझता था, जो उसके पिता के समय में था । इसी भावना की पुष्टि में ऊदल के उद्गार द्रष्टव्य हैं :-

बदला लेहौं मैं बहुआ को, माड़ौं खोद करै हौं ताल ।
सीस काटकै वा कड़िया को, औ जम्बे को सीस उतार ।
सो टंगवाय देउं महुवे में, दूनी लूट लेउं करवाय ।
बांस नसैनी में कड़िया को, तब छाती की डाह बुझाय ।(3)

बारहवीं सदी के अन्य वीरकाव्यों में भी युद्ध- वर्णन की प्रधानता है । डॉ॰ विपिन त्रिवेदी लिखते हैं, कि- "रासो युद्ध-प्रधान काव्य है और तदनुसार उस समय की

---

(1) लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इन्डिया - सर जार्ज ग्रियर्सन, भाग-9, पृ॰495.
(2) हिन्दू संस्कृति अंक (कल्याण), पृ॰154.
(3) माड़ौं की लड़ाई - पृ॰सं॰45-46.

आदर्श वीरता का इसमें चित्रण है ।"§1§ आल्हखंड में अधिकांशतः अन्याय के प्रति युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करना, पौरुष द्वारा अपनी कीर्ति की रक्षा करना तथा मृत्यु के भय से विमुक्त रहना आदि वीरोचित घटनाओं के उभरे हुए कलात्मक चित्र प्रतिबिंबित होते हैं । इसका इतिहास वृतांततक अंश कवि के कुशल वस्तु-वर्णन से अत्यन्त सरस हो गया है और भाव-व्यंजना का कलात्मक चित्रण हृदय के मर्मस्थल को सहज ही स्पर्श कर लेने में समर्थ है ।

युद्ध-परक संस्कृति की अभिव्यंजनार्थ निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया जा सकता है :-

<u>दुर्ग एवं कोट</u> :- मध्ययुग में युद्धों के लिए दुर्गों का अत्यधिक महत्व था । दुर्ग-रचना का वैज्ञानिक ढंग अपनाया जाता था । उसके लिए प्रायः पहाड़ियों के शिखर अथवा प्राकृतिक अवरोधों से युक्त स्थानों का चुनाव किया जाता था । इतिहासकार केशवचन्द्र मिश्र लिखते है, कि- "चंदेल शासकों की कला, स्थापत्य के क्षेत्र में अजेय दुर्गों के निर्माण में पराकाष्ठा पर पहुँची । ये सभी अपनी पर्वतीय स्थिति तथा बाहरी आक्रमण के विरुद्ध सुदृढ़ अजेयता के कारण इस देश की सुरक्षा के इतिहास में अद्भुत स्थान रखते हैं ।§2§

इन दुर्गों की अभेद्यता के पुष्टीकरण में श्री जदुनाथ सरकार भी कहते हैं, कि- "यदि इन किलों में खाद्य-सामग्री की व्यवस्था हो चुकी है अथवा यदि रात्रि के समय पिछले दरवाजे से चोरी-छिपे खाद्य-सामग्री आ सके, तो आधुनिक तोपखाने के पहले, इन किलों में आश्रय लिए हुए लोगों को वहाँ से कोई नहीं निकाल सकता ।"§3§

आल्हखण्ड में कालिंजर, महोबा, कन्नौज, सिरसागढ़, गाड़ौंगढ़, बौरीगढ़, नरवरगढ़ §अजमेर से लगभग 15 मील की दूरी पर किशनगढ़ के क्षेत्र में स्थित प्राचीन नरपुर§§4§ नैनागढ़, बूँदी, पथरीगढ़, सुन्नागढ़, सिंहलद्वीप, पट्टीगढ़, कामरूप §ब्रह्मपुत्र की घाटी में स्थित उस काल का एक शक्तिशाली राज्य§§5§ बिरियागढ़ और

---

§1§ चंदवरदाई और उनका काव्य - डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ. 121.
§2§ चन्देल और उनका राजत्व काल - श्री केशवचन्द्र मिश्र, पृ. 231.
§3§ भारत का सैन्य इतिहास- श्री जदुनाथ सरकार§अनुशीलन सुनीलकुमार त्रिवेदी§पृ. 51.
§4§ प्राचीन भारत का इतिहास-भूगोल - श्री वि. प. लाहा §अनु. श्री रामकृष्ण द्विवेदी§ पृ. 381.
§5§ वही : पृ. सं. 332.

दिल्ली आदि स्थानों के दुर्गों का वर्णन आया है । इस वर्णन में दुर्गरचना सम्बन्धी जानकारी का सर्वथा अभाव है । भौगोलिक स्थिति को भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है । कहीं-कहीं कुछ संकेत मिलते हैं जो अधूरे हैं । गढ़ का भेद लेते हुए ऊदल और राजा जम्बे की बेटी के बीच हुई बातचीत से दुर्ग की दुर्गमता का संकेत मिलता है । यथा :-

कठिन किला है लोहागढ़ कौ, जँह पर जम्बे बाप हमार ।
बिना सुरंग वह नहिं टूटन कौं, चाहे कोटिन करो उपाय ।
किला दूसरौ झाँसीगढ़ है, जँह पर तपै कड़िगाराय ।
बारह दरी कठिन बैठक है, जँह पर सूरज भाई हमार ।{1}

<u>वाहन, घोड़ा और अस्त्र-शस्त्र</u> :- आल्हखण्ड के युद्धों में रथ, हाथी, घोड़ा आदि का वाहनों के रूप में प्रयोग हुआ है । ऐसा माना जाता है, कि रथ भारतीय सेनाओं का सबसे गौरवशाली वाहन था । प्रत्येक रथ चार घोड़ों द्वारा खींचा जाता था । रथ पर छः व्यक्ति अर्थात दोनों और एक-एक ढाल-वाहक और धनुर्धर तथा भाला लिए हुए दो रथ-चालक सवार रहते थे ।{2} चंदेल काल में रथों की सेना का महत्व कम हो गया था । परमाल रासो में भी रथ-युद्ध का वर्णन नहीं मिलता है ।

श्री केशवचन्द्र मिश्र लिखते हैं, कि- "नई परिस्थिति के प्रादुर्भाव के साथ रथ का युद्ध लद चुका था और वे असफल सिद्ध हो चुके थे ।"{3} आल्हखण्ड में हाथी, घोड़े और बैलों द्वारा खींचे जाने वाले रथों से सुसज्जित सैन्य-वर्णनों से प्रतीत होता है कि सम्भवतः अब इनका उपयोग युद्ध की भारी सामग्री ढोने के लिए होता था ।

मध्ययुग में युद्ध के लिए हाथी महाभारत काल की तरह अत्यधिक महत्वपूर्ण था । चन्देलों की सेनाओं ने जितने भी निर्णयकारी युद्ध लड़े, सभी हाथियों की प्रमुखता से ही लड़े । तत्कालीन नाटककार कृष्ण मिश्र ने "प्रबोध चन्द्रोदय" में सेना के मदमाते हाथियों का वर्णन किया है ।{4} परमाल रासो की वर्णनाओं में सैन्य

{1} भाड़ौं की लड़ाई - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 24.
{2} भारत का सैन्य इतिहास - श्री जदुनाथ सरकार {अनु. सुनील कुमार त्रिवेदी}, पृ. 14.
{3} चन्देल और उनका राजत्व काल - श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ. 165.
{4} वही : पृ. 165.

सज्जा में हाथियों के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं । यथा :-

हाथी सजावो कजरीबन के, सिंहल दीपी लेउ सजाय ।
बडदन्ता औ छुट दंता सब, हाथी तुरतै लेव सजाय ।
इकदन्ता और दुइदन्ता पर, हौदा धरौ सोवरन क्यार ।
मेगुल भूरा हाथी साजो, छोटे पर्वत की अनुहार ।
खूनी हाथी को सजवायो, पायन देव जंजीर बंधाय ।
भौंरागज, अंगद, पकदगज, और मलियागिरि लये सजाय ।
मैनुकुंज धौलागिरि साजे, भूरा हाथी लये सजाय ।
मकुना हाथी सब सजवाये, मुड़िया हौदा दये धराय ।§1§

उक्त वर्णन में हाथियों को अनेक नामों से संबोधित किया गया है । ये नाम उनके आकार-प्रकार और स्थान विशेष के अनुसार निश्चित किए गए प्रतीत होते हैं । हाथियों के नामकरण की एक परंपरा थी । अकबर नामा के युद्ध-वर्णन में लोना, गज-मुकुट, राम प्रसाद, गजराज और रणमदार आदि नामों से हाथियों को संबोधित किया गया है ।§2§ इससे इस परंपरा की पुष्टि होती है । समर में हाथियों के कौशल बहुत प्रसिद्ध थे । हाथी युद्ध प्रशिक्षित थे और सैन्य-व्यूह तोड़ने तथा घुड़-सवारों को छिन्न-भिन्न करने में प्रसिद्ध थे । जंजीर घुमाते हुए आल्हा के हाथी पचशावद के सामने भला कौन ठहर सकता था । यथा :-

खोली सांकल तब आल्हा ने, पचशावद को दई गहाय ।
फेरी सांकल तब हाथी ने, क्षत्रिन काट करो खरिहान ।§3§

हस्ति-सेना के साथ ही अश्व-सेना का भी महत्वपूर्ण स्थान था । भारतीय सेना में अश्वारोही सेना की संख्या हस्ति-सेना से अधिक रहती थी । इतिहासकारों का मत है कि- संपूर्ण मध्य एशिया में सभी नस्लों के घोड़ों से तुर्कमान घोड़े श्रेष्ठ होते थे ।§4§

भारत में तुर्कों के आगमन से पूर्व भारतीय सेना में विदेशी घोड़े नहीं थे ।

---

§1§ भौरीगढ़ की लड़ाई - पं. सीताराम, पृ. 39.
§2§ भारत का सैन्य इतिहास - श्री जदुनाथ सरकार, पृ. 140.
§3§ दिल्ली की लड़ाई §ब्रह्मा का ब्याह§, पृ. 55.
§4§ केम्ब्रिज मिडिवल हिस्ट्री - भाग-1, पृ. 331.

भारतीय घोड़ों का सैनिक प्रशिक्षण भले ही नवीन युद्ध-प्रणाली के अनुरूप न रहा हो, परन्तु उनकी श्रेष्ठ चाल, चतुराई और स्वामि-भक्ति कम नहीं थी । तत्कालीन नाटककार कृष्ण मिश्र द्वारा रचित "प्रबोध चंद्रोदय" में कहा गया है, कि-"युज्यन्ताम् स्यन्दनेषु प्रतभजितमरुच्चण्डवेगास्तुर डगा:§1§ अर्थात अप्रतिम वेग से पवन को भी हठात पराजित करने वाले घोड़े रथ में जोते जाएं ।

परमाल रासो में, माड़ौं पर चढ़ाई करने की तैयारी में चन्देलों के सेनापति ताल्हन सैयद अनेक प्रकार के तेज़ घोड़े सजाने का आदेश देते हैं । यथा :-

कच्छी-मच्छी घोड़ा साजे, ताजी मुस्की लये सजाय ।
लखा गर्रा, हरियल साजे, पच कल्याणी लए सजाय ।
सज्जा सुर्खा घोड़ा साजे, औ दरयायी लए सजाय ।
श्याम कर्ण घोड़ा सजवाये, औ मुखमंजन लए सजाय ।
चौथरि चाल कबूतर साजे, घोड़ सपेदा लए सजाय ।§2§

आल्हखण्ड में उड़न-बछेड़ा का बड़ा चमत्कारी वर्णन आया है । पवन के समान वेग वाले उत्तम जाति के इन घोड़ों के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि ये उड़नेवाले घोड़े थे । इनके नाम थे- पपीहा, करिलिया, हरनागर, मनुरथा, बेंदुला §दलगंजन§ और घोड़ी कबूतरी तथा हिरोजिन नाम की दो घोड़ियाँ । पृथ्वीराज के भरे दरबार में ऊदल अकेले ही बेंदुला की दम पर, बेला के लिए कुण्डल लेकर सुरक्षित निकल आते हैं :-

झपटि उठाए दोनों कुंडल, औ राजा कों करी सलाम ।
ऐड़ लगाई रस बेंदुल के, फाटक निकर गए बा पार ।
उड़न बछेड़ा पर ऊदल था, देखत रहे धनी चौहान ।§3§

चन्देल-सेना में योद्धाओं की भरती केवल जेजाक-मुक्ति और सामंत देशों से ही की जाती थी, इसलिए ये स्थानीय स्वदेशाभिमानी योद्धा अपनी जन्म-भूमि और राजा के लिए समर्पित थे ।

हिन्दू-प्रथा के अनुसार जब योद्धा निर्णय-युद्ध के लिए तैयार होते थे तो वे प्राय: तीन बजे स्नान और पूजा करने के लिए उठ जाते थे, पहले से तैयार पकवान

---

§1§ प्रबोध चन्द्रोदय - कृष्ण मिश्र, निर्णय सागर प्रेस, पृ. 157.
§2§ माड़ौं की लड़ाई - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 15.
§3§ ब्याला का विवाह - वही - पृ. 28.

जाते, शस्त्र धारण करते और सूर्योदय के समय युद्ध-स्थल में पहुँच जाते थे ।§1§ आल्हखण्ड में गढ़माड़ौं का राजकुमार सूरजमल उक्त हिन्दू प्रथा का निर्वाह करते हुए युद्ध का बाना धारण करता है । यथा :-

चंदन दीनों निज मस्तक पर, भुजदंडन पर लियो लगाय ।
लंग चढ़ाय लई रेशम की, जाये गढ़े नहीं हथियार ।
पहिले पहिरे वस्त्र बनाती, ताके ऊपर कुलह कंबार ।
तेहि पर पहिरी झीलम अपनी, जायें टूटि जाय तलवार ।
ताके ऊपर बखतर पहिरो, जायें सैल नहीं अनियाय ।
टोप झलरिया धरि माथे पर, गोली लगत चीप हुइ जाय ।§2§

योद्धा की सजावट में उसके हथियार अत्यधिक महत्व रखते थे । रण का बाना पहने, युद्ध के हथियारों से सुसज्जित सूरजमल इन्द्र के समान सुशोभित हो रहा है--

बारह छुरियां कम्मर बांधि, कलहा दुइ बांधि तलवार ।
अगल-बगल में दुइ पिस्तौलें, दहिने सिंहिन मूठ कटार ।
भाला सोहे नागदौनि की, बाये ओर गैंड़ की ढाल ।
जोडी बांधी कड़ाबीन की, गोली टका भरे की खाय ।
लाल कमनियां है मुलतानी, गांसी डेढ सेर की खाय ।
तजिकें सूरजमल ठाड़े भै, मानो इन्द्र अखाड़े जाय ।§3§

इस प्रकार वाहन, योद्धा और उनके अस्त्र-शस्त्र, परमाल रासो में तत्कालीन युद्धपरक संस्कृति के विभिन्न स्रोतों को उद्घाटित करते हैं ।

सैन्य-सज्जा, व्यूहरचना तथा युद्ध-कला :-

युद्ध-बाहुल्य के कारण सैनिक युद्ध के लिए सदैव तैयार रहते थे । युद्ध में रथों का प्रयोग ईसवी सन् के पूर्व ही बंद हो जाने के कारण अब सेना के तीन ही अंग थे- हस्ति सेना, अश्व सेना और पैदल सेना । समस्त सेना का अधिकारी महासेनापति और उसके नीचे प्रत्येक प्रमुख श्रेणी के लिए अलग-अलग सेनापति होते थे तथा सेनापतियों के सहायक बलाध्यक्ष होते थे ।§4§ आल्हखण्ड में दरोगा का प्रयोग प्रक्षिप्त है ।

---

§1§ भारत का सैन्य इतिहास - श्री जदुनाथ सरकार, पृ. 40.
§2§ माड़ौं की लड़ाई, पृ. 18.
§3§ वही - पृ. 19-20.
§4§ चन्देल और उनका राजत्वकाल - केशवप्रसाद मिश्र, पृ. 165.

घोड़ा की साज-सज्जा की तरह हाथी-घोड़ा आदि की सजावट भी युद्ध के अनुकूल होती थी । महासेनापति का आदेश मिलते ही सैन्य-सज्जा की तैयारी प्रारम्भ हो जाती थी । हाथियों की सेना के प्रमुख महापिलुपति की देखरेख में हाथियों की सजावट करते थे । युद्ध के लिए घोड़ों को सिर से लेकर पूँछ तक सजाया जाता था । केसर-मेंहदी से रंजित खुर और पूँछ, सिर पर लगी मोतीचूर की कलगी तथा सोने-चाँदी से सुसज्जित घोड़ों का अंग-अंग अपनी अनूठी शोभा रखता था । आल्हखंड में दोनों की साज-सज्जा के वर्णन मिलते हैं ।

परमाल रासो में वर्णित युद्धों में सेना की साज-सज्जा और तैयारी डंके की चोट के साथ होना और चोप नगाड़ा के बजते ही सेना का प्रस्थान सैनिकों की अनुशासन-बद्धता को प्रदर्शित करता है । यथा :-

पहिले डंका के जिन बंदी, दुसरे बाँधि लये हथियार ।
तिसरे डंका के बाजत खन, क्षत्रिन धरे रकाबन पाँव ।
चोप नगाड़ा के बाजत खन, लश्कर चला महोबे क्यार ।[1]

आल्हखंड के युद्ध-वर्णन में व्यूह-रचना का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता । ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चन्देल-सैनिक व्यूहबद्ध होकर ही युद्ध करते थे और सैन्य-व्यूह का उत्तरदायी अधिकारी महाव्यूहपति होता था । महाभारत काल की तरह इस युग में सेना का व्यूह-बद्ध होकर युद्ध करने की पुष्टि चंदवरदाई कृत "पृथ्वीराज रासो" में वर्णित अनेक प्रकार की व्यूहरचना से होती है ।

युद्ध प्रायः आमने-सामने ललकार कर होते थे । सम्राट स्वयं युद्ध के मैदान में सैन्य-संचालन करता था ।[2] युद्ध प्रारम्भ होने से पहले दोनों पक्षों के सेना-नायकों के बीच युद्ध के कारण पर क्रोधित मुद्रा में बात-चीत आल्हखंड में बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णित हुई है :-

मोती बढ़िगै तब आगे कों, औ ऊदन सो कही सुनाय ।
कैद छाँडि देउ तुम राजा की, चुप्पे लौट महोबे जाउ ।
यह सुनि ऊदल बोलन लागे, मोती सुनो हमारी बात ।
बहिनी ब्याहि देउ जल्दी से, तो हम लौटि महोबे जायं ।

---

[1] ब्याला का ब्याह - पृ. 29.
[2] चंदेल और उनका राजत्व काल - वही, पृ. 166.

इतनी सुनिके मोती जरिगे, तोपन बत्ती दई लगाय ।[1]

वस्तुतः आल्हखंड के सभी युद्धों के प्रारम्भ में तोपें दागे जाने का वर्णन प्रक्षिप्त है । दोनों पक्षों की सेनाओं के बीच की दूरी के अनुरूप हथियारों का प्रयोग करते हुए युद्ध नियमबद्ध और पूर्व निश्चित तरीके से होता था ।

विवाहों में युद्ध की परंपरा :-

आल्हखण्ड या परमाल रासो की वर्णनाओं को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय विवाह और युद्ध एक दूसरे के पर्याय हो गए थे । उदाहरण के लिए- आल्हा का विवाह, ऊदल का विवाह और मलखान के विवाह का अर्थ है क्रमशः नैनागढ़, नरवरगढ़ तथा पथरीगढ़ की लड़ाई । विवाह सम्बन्धों में युद्ध एक परम्परा के रूप में वर्णित है । संयोगिता स्वयंवर में यद्यपि स्वयंवर की प्राचीन परम्परा की पुष्टि होती है, परन्तु कोई भी विवाह खून की नदी बहे बिना सम्पन्न नहीं हो सका । राजकुमारी के विवाह का टीका युद्ध-संदेश के साथ जाता था । नैनागढ़ के राजा नेपाली, अपने पुत्र विजया और नेगियों को तीन लाख की टीका-सामग्री के साथ भेजते हुए पत्र लिखते हैं, कि—

अमरटोल है मेरे घर में, सेना सुनत अमर हुइ जात ।
कठिन लड़ाई है जोगा की, औ भोगा की है तलवार ।
जंग जीत कै बेटी ब्याहै, तो मेरे घर करै विवाह ।[2]

रूढ़िगत परंपरा एक मजबूरी बन जाती है, न चाहते हुए भी राजाओं को प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए युद्ध के लिए प्रवृत्त होना पड़ता था । टीका से साथ युद्ध-संदेश को स्वीकारना राजपूत राजा अपना गौरव मानते थे । विवाह के सभी कृत्यों में युद्ध एक आवश्यकता मानी जाती थी । लग्न भेजने से लेकर तिलक, विवाह हेतु वरयात्रा और अगवानी, तोरण कलश आदि, द्वारचार, जनवासा, कन्या का श्रृंगार, मंडप, मंगलगीत, गाँठ-बंधन, गणेश-पूजन, कुलदेवता अग्नि, ब्राह्मण आदि के पूजन, शाखोच्चार कन्यादान भाँवरी, ज्योनार, दान-दहेज और विदाई विधिवत होती थी । इसकी पुष्टि तत्कालीन कवि चंदवरदाई की अपनी प्रसिद्ध कृति "पृथ्वीराज रासो" के विवाह-वर्णन से होती है ।[3]

---

[1] बड़ा आल्हखंड - पं. सीताराम जी, पृ. 335.
[2] आल्हा का ब्याह - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 9.
[3] चन्दवरदाई और उनका काव्य - डॉ. बिपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ. 95.

आल्हखण्ड में विवाह-वर्णन प्रसंगों में इन सब कृत्यों का वर्णन अल्प मात्रा में है । वहाँ तो केवल तलवार का नेग ही प्रमुख बना हुआ है । परमाल का विवाह, ब्रह्मा या ब्याला का विवाह, मलखान का विवाह आदि में प्राचीन भारतीय संस्कृति का परिपाक हुआ है ।

युद्ध में तंत्र-मंत्र और जादू :-

इतिहासकार श्री केशवचन्द्र मिश्र लिखते हैं, कि- "यह तांत्रिकों और अघोरपंथियों का युद्ध था । इस सम्प्रदाय का व्यापक प्रभाव जनजीवन पर पड़ा था । तंत्र-मंत्र की शक्ति में लोगों का सर्वाधिक विश्वास था ।"§1§ परमाल रासो में वर्णित युद्धों में तांत्रिकों और जादूगरों के करिश्मों का वर्णन बड़े रोचक ढंग से हुआ है । अमर गुरु, गुरु झिलमिला और गुरु गोरखनाथ आदि तांत्रिकों के नाम युद्ध-घटनाओं में शामिल हैं । अमर गुरु ने आल्हा-ऊदल तथा परमाल वंश की सदैव सहायता की है । आल्हा का पुत्र इन्दल सिंहल-द्वीप की राजकुमारी को पाने के लिए कुछ तांत्रिक वस्तुएँ लेता है :-

बैन मुदरिया कों दै दीनों, जामें जड़े छत्तीसों राग ।
सोटा दीनों है इन्दल को, जासे रणहिं होय ना हार ।
रतन जड़ाऊ गुदड़ी दीन्हीं, जासें भूख लगे न प्यास ।
चरण खड़ाऊँ को दै दीन्हों, इनके अमर होउ सवार ।
जौन देश को करौ इरादो, पलभर में दैहैं पहुँचाय ।§2§

तंत्र-मंत्र में निपुण अनेक स्त्रियों की जादूगरी-कारनामों का वर्णन आल्हखण्ड में हुआ है, जिनमें आल्हा की रानी सोनवां, राजा जम्बे की बेटी बिजिमा, पथरीगढ़ की श्यामा भगतिन, नरबरगढ़ की हिरिया मालिन आदि द्वारा युद्ध-स्थल में प्रयुक्त जादुई करिश्मे आश्चर्य में डाल देते हैं ।

नैतिक मान्यताएँ और आदर्श :-

युद्ध सम्बन्धी नैतिक मान्यताओं का पालन करना श्रेष्ठ योद्धा अपना कर्तव्य ही नहीं, अपितु युद्ध-धर्म समझता था । राजा परमर्दिदेव, युद्ध के लिए उद्यत आल्हा-ऊदल को युद्ध के नैतिक नियमों का आदेशात्मक उपदेश देते हैं । यथा :-

---

§1§ चन्देल और उनका राजत्व काल - श्री केशवचन्द्र मिश्र, पृ. 198.
§2§ सिंहलद्वीप की लड़ाई - पहलवानी आल्हा, पृ. 16.

रीति-नीति को जो कोउ बर्ते, ताकी कबहूँ होय नहीं हार ।
हा-हा खाते को ना मारै, ना तिरियन पर डारै हाथ ।
बालक बूढ़े को ना मारै, ना भागे को करै पिछार ।
पहिली चोट करै नहिं कबहूँ, ना निर्बल पर करै प्रहार ।
ताको मारै न काहू बिधि, जाके पास नाहिं हथियार ।
पाँव पिछारन को न देवै, ताकी जीत होय सब काल ।§1§

परमाल रासो में वर्णित युद्ध प्रतिष्ठा और यश-कामना की भावना से लड़े गए, उनमें तुच्छ स्वार्थ की भावना का सर्वथा अभाव है । इसलिए उत्तराधिकार के लिए कोई युद्ध नहीं हुआ । लोहखंभ से बँधे, आल्हा द्वारा निर्दयता से पिटते हुए ऊदल एक बार बहक जाते हैं किन्तु नैतिक भावना का बंधन उन्हें रोक लेता है । यथा :-

सुनतै गुस्सा हुइ ऊदनि ने, तुरतै खंभा लियो उखार ।
सोचन लागे ऊदनि बाँकुड़ा, जेठो भाई बाप समान ।
हाथ चलाऊँ जो आल्हा पर, तौ रजपूती धर्म नसाय ।§2§

विपत्ति में भी स्त्रियों की सहायता लेना, राजपूत धर्म के विरुद्ध माना जाता था । दूल्हा मलखान को जब गजराजा ने धोखा देकर बन्दी बना लिया और खंदक में डाल दिया, तो राजकुमारी गजमोतिन§मलखान की होने वाली रानी§ अर्ध-रात्रि के समय चोरी से निकल भागने में मलखान की सहायता करना चाहती है, किन्तु वीर मलखान उसके प्रस्ताव को दृढ़ता से ठुकराते हुए कहते हैं, कि—

तुम्हरे बल सों जो हम निकरैं, तो रजपूती जाय नसाय ।
चोरी-चोरी हम ना निकरैं, ना हम करैं चोर को काम ।
क्वाँरे भोजन हम ना करि हैं, नहिं रजपूती धर्म नसाय ।
जो तुम रानी हमकौं चाहौ, आल्है खबरि देउ पहुँचाय ।§3§

विवाह से पूर्व अनैतिक सम्बन्धों को राजपूत-धर्म आदेश नहीं देता था । माड़ौं के राजा जम्बे की राजकुमारी दिजमा के एकान्त महल में, आग्रह करने पर भी कृपाण के धनी ऊदल विवाह के लिए गंगा की सौगन्ध करके भी विवाह के पहले सेज पर पैर

---

§1§ माड़ौं की लड़ाई - आल्हखण्ड, पृ. 112.
§2§ इन्दल-हरण - " पृ. 199.
§3§ मलखान का ब्याह - पहलवानी आल्हा, पृ. 28.

रखने के लिए किसी भी प्रकार तैयार नहीं होते हैं --

क्यारे भोजन जो हम जीमैं, क्यारे धरे सेज पर पांव ।
हाथ जो डारें हम तिरियन पर, तौ सब क्षत्री धर्म नसाय ।[1]

त्याग, बलिदान और वीरता की त्रिवेणी से प्लावित पवित्र हृदय वाला वीर योद्धा, धर्म के लिए मर-मिटना जानता है । युद्ध की सांस्कृतिक चेतना को हृदयंगम किए हुए "परमाल रासो" का यह संदेश कितना मार्मिक एवं सटीक है--

रण के समुहे से जो भगिहौ, बुड़िहै सात साखि कौ नाम ।
मानुष देही यह दुर्लभ है, मारो जनम न बारम्बार ।
समुहे लड़िकैं जो मरि जैहो, होइहै जुगन-जुगन लौं नाम ।
जैसे पाट टूट तस्वर के, गिरकैं बहुरि न लागै डार ।
जो मरि जैहो खटिया परिकैं, कोउ न नाम लिहै संसार ।[2]

इस प्रकार "परमाल रासो" में युद्धपरक संस्कृति भारतीय आदर्शों की पुष्टि करती है और भारतीयता का कान्ति बढ़ाती है ।

आल्हा-गायकी का एक रूप :-

दतिया [मध्य प्रदेश] आल्हा-गायकी का प्रमुख केन्द्र माना जाता है । उत्तर भारतीय संगीत की कुछ गायकियों तथा गायन-शैलियों का नाम दतिया नगर से जुड़ा हुआ है । उदाहरणार्थ- दतिया का मल्हार, दतिया का लेद, दतिया का आल्हा इत्यादि । दतिया के साथ इन गायन-शैलियों का नाम जुड़ने का कारण यह नहीं है कि इन गायन-शैलियों का जन्म मात्र दतिया में ही हुआ है, बल्कि यह है कि दतिया ने इनका लालन-पालन करके, इन्हें भली-भाँति पुष्पित एवं फलित होने दिया ।

आल्हा शब्द का अर्थ बुंदेलखण्डी जनमानस के लिए लोक-विदित है । उत्तर भारत के समूचे भाग में ग्रामीण प्रायः आल्हा गा-गाकर ही अपनी बरसातें काटते हैं । इस क्षेत्र के शिक्षित लोग प्रकाशित आल्हा की पुस्तकों से और अशिक्षित लोग प्रायः लोक प्रचलित आल्हा का साखियों के सहारे अपना आल्हा गायन का शौक पूरा करते

---

[1] बड़ा आल्हखण्ड - पं. महावीर प्रसाद, पृ. 536.
[2] ब्याला का विवाह - कुँवर अमोलसिंह, पृ. 99.

हैं । इसके गायन के साथ में ढोलक-मंजीरा बजाया जाता है । उनके इस प्रकार के गायन में सिर्फ वीररस की ही प्रधानता रहती है और संगीत की दृष्टि से वैविध्य और वैभिन्य का पूर्ण अभाव रहता है । यह सर्वत्र प्रचलित गायन शैली है ।

दतिया क्षेत्र की आल्हा गायकी इससे भिन्न है । यहाँ के आल्हा गायन के लिए सारंगी, खड़ताल और मृदंग- ये तीन वाद्य यंत्र आवश्यक हैं । सारंगी के अभाव में हरमोनियम भी चल जाता है । वर्तमान समय में प्रायः हरमोनियम का ही प्रयोग होता है । इस क्षेत्र के लोग पुस्तक से पढ़कर आल्हा-गायन को अच्छा नहीं मानते, इसलिए गायक प्रायः आल्ह-काव्य को कंठस्थ ही रखता है । इसी प्रकार, फुटपाथों पर बिकने वाली पुस्तकों में प्रकाशित आल्हा को भी गायक प्रायः कम ही उपयोग में लाते हैं । यह लोग प्रायः उस आल्हा-काव्य को कंठस्थ करते हैं जो या तो लोक में साखियों, सैरों के रूप में प्रचलित है अथवा फिर जिसे वे आनुवांशिक या परंपरागत रूप से सुनाते चले आ रहे हैं ।

दतिया के प्रसिद्ध आल्हा-गायकों से संपर्क एवं साक्षात्कार के द्वारा यह ज्ञात हुआ है, कि- परंपरागत रूप से प्राप्त यह आल्ह-काव्य उन्नीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध कवि नवलसिंह प्रधान की प्रतिलिपि से प्रारम्भ हुआ था और आज यह प्रति दतिया के राजकीय पुस्तकालय (कुतुबखाने) में सुरक्षित जगनिक रायसो (परमाल रायसे) की हस्त-लिखित प्रतिलिपि थी । ऐसी अनेक प्रतिलिपियाँ दतियाँ नगर के कुछ परिवारों में थी, सम्भवतः आज भी होंगी । परन्तु संभावना यह है कि उनमें से अधिकतर या तो रद्दी खरीदने वालों या फिर पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें के व्यापारियों के हाथों में सौंपी जा चुकी हैं । ऐसी परिस्थिति में प्रमाण के लिए किसी हस्तलिखित प्रति को प्रस्तुत कर सकना कठिन है । राजकीय पुस्तकागार के बस्ते भी स्थानीय डिग्री कालेज की लाइब्रेरी को सौंपे जा चुके हैं । अतः मात्र कालेज की लाइब्रेरी में ही उक्त प्रति मिलने की संभावना की जा सकती है । बहरहाल, वर्तमान में तो केवल दतिया के सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध आल्हा-गायक गंगोले को ही उपरोक्त प्रति का एकमात्र पर्यायवाची माना जा सकता है क्योंकि उन्होंने नवलसिंह प्रधान की ही प्रतिलिपि से आल्हा कंठस्थ किया था । उन्हें संपूर्ण आल्हखण्ड तो कंठस्थ है ही इसके अतिरिक्त चन्द्रवरदाई के अधिकांश छन्द भी पर्याप्त मात्रा में मुखाग्र हैं ।

ऐसा माना जाता है, कि दतिया वीर मलखान की कर्मभूमि रही है। दतिया की पश्चिमी सीमा पर सिंध नदी बहती है। इस नदी से जहाँ मधुमती (महुअर) नदी का संगम होता है वहाँ धूमेश्वर महादेव का एक विशाल एवं प्राचीन मंदिर है। इस मंदिर का पुनर्निर्माण महाराज विरसंग देव (वीरसिंह देव प्रथम) ने करवाया था। इसी मंदिर के निकट नदी के किनारे एक विशाल चबूतरा है जिसे मलखान की चौकी कहते हैं। वहाँ एक बड़ी सांग भी गड़ी हुई है। इस चबूतरे के निकट मंदिर के एक साधु को खुदाई में लोहे की एक लगाम प्राप्त हुई है। यह लगाम करीब तीस किलो वजन की बताई जाती है। अतः यह जनश्रुति है कि "आल्हा" के समय लोग दीर्घकाय हुआ करते थे, कुछ-कुछ सत्य प्रतीत होती है। क्योंकि तीस किलो भार की लोहे की लगाम वर्तमान युग के अश्व कदापि सहन नहीं कर सकते, इसके लिए घोड़े का विशालकाय और बलवान होना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त इतने विशाल घोड़े पर आधुनिक युग के मनुष्य तो सवारी बिल्कुल ही नहीं कर सकते। उसके लिए विशालकाय आरोही भी चाहिए। अस्तु, इस उल्लेख का प्रयोजन सिर्फ यह बताना था कि दतिया की भूमि का आल्हा और उनके परिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

दतिया के आल्हा-गायन का प्रारम्भ "साखी" से होता है। इसके लिए पीलूराग से मिलते-जुलते "मल्हार" नाम के लोकधुन के स्वर निश्चित हैं। इन स्वरों के आधार पर प्रसंगानुकूल साखी गायी जाती है। लय प्रायः मध्य विलम्बित रहती है और मृदंग पर ठेका बजाया जाता है। यद्यपि वह कोई शास्त्रीय ताल नहीं है तथापि, अठारह मात्रा-काल में पूरा होता है। तत्पश्चात कहरवे (राग) की मध्य लय में तत्सम्बन्धित दो-तीन अन्य साखियाँ या दोहे कहकर साखी का तोड़ किया जाता है, जिसकी एक निश्चित धुन तो है ही, उसके साथ ठेका भी मध्यलय का दादरा बजाया जाता है। इसके बाद दादरे की लय में "आल्हा" की चौपड़ी शुरू की जाती है। इस चौपड़ी का अन्त भी साखी जैसे तोड़ से किया जाता है। इसके बाद यदि आवश्यकता हुई तो चौपड़ी की तर्ज बदल दी जाती है अन्यथा पूर्ववत् ही रखी जाती है। लड़ाई का प्रसंग आने पर "आल्हा" कहरवा के ठेके में प्रथम मध्यलय में, तत्पश्चात् द्रुत लय में गाया जाता है। तोड़ सभी का एक जैसा है। बीच-बीच में आवश्यकता-

---

संदर्भ : दतिया (म. प्र.) क्षेत्र का भ्रमण एवं जनसंपर्क।

नुसार और प्रसंगानुसार "लावनी" (गीत) आदि धुनों का प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि कम से कम चार-छः घण्टे के आल्हागान में धुनों और ठेकों की इस प्रकार की विविधता रखी जाती हैं कि श्रोताओं को कथा के साथ-साथ संगीत का भी पूरा-पूरा आनंद मिल जाता है।

इस संदर्भ में दतिया के सुप्रसिद्ध एवं वयोवृद्ध आल्हागायक गंगोले (उर्फ गंगाधर श्रीवास्तव) का नामोल्लेख अप्रासंगिक न होगा। यह वयोवृद्ध गायक वर्तमान में लगभग अस्सी वर्ष की वय प्राप्त कर चुका है तथापि एक बैठक में कम से कम छः घण्टे तक आल्हा-गायन की क्षमता रखता है। गंगोले आल्हा गाने के लिए पूर्ण रूप से समर्पित हैं। यदि उनकी वृद्धावस्था के अभ्यास पर ध्यान न दिया जाए तो उनकी आल्हा गायकी में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने पाई है। उन्होंने अपनी युवावस्था में "आल्हा" से सम्बन्धित लगभग सभी ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा की है और अपने गायन से रसिकों को मंत्रमुग्ध किया है। उनके अपने वाद्य-वादक हैं, जो अपने मुखिया नायक की ही भाँति "आल्हा" के परम भक्त है। संपूर्ण आल्हा-काव्य को कंठस्थ रखने के सन्दर्भ में गंगोले अपने आप में एक उदाहरण हैं।

गंगोले या गंगाधर श्रीवास्तव के पूर्ववर्ती आल्हा-गायकों में दमरू महाराज, जोधा और रामदयाल, इन तीनों गायकों के नाम प्रकाश में आये है। इनसे भी पूर्ववर्ती गायकों में हम नवलसिंह प्रधान के नाम का उल्लेख कर सकते हैं। हालांकि इस बात का कोई कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि नवलसिंह प्रधान गाते होंगे, लेकिन चूंकि उन्होंने आल्हा की प्रतिलिपि की थी और आल्हाशैली में रामायण-महाभारत की गाथाएँ छन्दोबद्ध की थी, इससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि वे एक आल्हा-गायक भी रहे होंगे। जनश्रुति भी कुछ ऐसी ही है। आज आल्हा की जो परिपुष्ट शैली दतिया में प्रचलित है (विशेषकर गंगोले द्वारा जो गाई जाती है) उसके विकास का काफी कुछ श्रेय उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के बीच संगीतमय वातावरण को ही दिया जा सकता है, क्योंकि इस काल का वातावरण ही दतिया के सांगीतिक इतिहास का "स्वर्णयुग" माना जाता है। इससे पूर्ववर्ती गायन-शैली के बारे में यह जानकारी मिलती है कि "आल्हा" के अन्तर्गत केवल साखी, चौपड़ी और लड़ाई गाई जाती थी और यह भी सीधे-साधे ढंग से, आज की भाँति कलात्मक या रागात्मक ढंग से नहीं।

इसके अतिरिक्त उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आल्हागायन के विभिन्न रूप प्रचलित हैं । उनकी गायकी के अन्तर्गत लय, ध्वनि तथा आरोह-अवरोह में भी संक्षिप्त अन्तर पाया जाता है । इस आल्हा गायकी के रूप है- बुंदेली, बनाफरी, सागरी, भोजपुरी, कन्नौजी, अवधी आदि ।

दतिया में उपरोक्त प्रकार की आल्हा-गायकी का सूत्रपात किस काल में हुआ, उसे पुष्ट प्रमाणों के अभाव में बता सकना मुश्किल है । तथापि, जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि दतिया में मलखान की चौकी का निकटवर्ती होना और स्थानीय जनमानस में लोकनायक आल्हा के प्रति श्रद्धा-प्रेम का होना ही इस सूत्रपात का मूल हो सकता है । दतिया नगर की प्राचीनता और संगीत की दीर्घकालिक परंपरा का जीवित रहना भी इसका कारण हो सकता है । कोई आश्चर्य नहीं, कि दतिया की सुसम्पन्न सांगीतिक परंपरा ने ही यहां के आल्हा-गायकों को एक प्राचीन तथा भिन्न प्रकार की आल्हा गायकी को जन्म देने के लिए अनुप्राणित किया । जो भी हो, इस गायन-शैली का इतिहास एक स्वतंत्र शोध का विषय है ।

हम दतिया की आल्हा-गायकी से सम्बन्धित उन अंगों की स्वर-लिपियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो यहाँ परंपरागत रूप से प्रचलित हैं । इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसी तर्जें हैं, जिनका यहाँ उपयोग किया जाता है, किन्तु विषय-संगत न होने की दृष्टि से उन्हें उद्धृत करना उचित न होगा । जिन छन्दों की तर्जों को उदाहरण बनाया गया है उनका प्रचलन व प्रयोग संप्रति किया जाता है ।

§1§ साखी :- आजा भवानी छिंगलाजनी, परजन पर करिये सहाय ।
आल मनालऊँ अब जदू भूम पै, रच्छा करिये सारदा माय ।।
मरौ मल्हारौ सालै नहीं, ना सालै सिरसिला गाँव ।
कलगी आँस रई मोय मलखान की, सिर पै दयें है चौड़ियाराय ।।

§2§ चौपड़ी :- मोहिनी तर्ज §आल्हा के ब्याह की§
जे दल बादल से रहे हैं छाय,
बाउन राजा अब मेले है,
गंगा जी पै मचौ घमसान ।
रंग-बिरंगे झंडा गाड़े-

संदर्भ : दतिया शहर के गंगोले §गंगा प्रसाद श्रीवास्तव§ से साक्षात्कार.
-सुप्रसिद्ध आल्हा-गायक

राजन की यही पहचान ।।

§3§ तोड़ :-

इतनी बारी आल की नार,
अपनी सहेली संगे लयें है-
जाकें पौचीं गंग के घाट ।।

§4§ लड़ाई :- §पुरबिया तर्ज़§

इतसें झपटौ वीर उदलसी, उतसों चामुंडरा बलवान,
भारी जंग मची दोइयन में, कट रये वीर हजारन ज्वान ।
तेगा धमकौ चामुंडराय नें, मन धर महेस कौ ध्यान,
ढाल अड़ाई अब उदल नें, बच गऔ जच्छराज कौ लाल ।

§5§ श्रृंगार :- §लावनी तर्ज़§

बांदी ने रानी की पटियाँ पारीं,
सेंदुर अबीर से बचि की मांग सँवारी ।
महाराज गुंथी चोटी, रेसम न्यारी,
लहर-लहर लहराय, नागिनी-सी मतवारी ।।

उपर्युक्त तर्ज़ें मृदंग में विभिन्न ठेकों के साथ गायी जाती हैं । बुंदेलखंड, जिला-जालौन स्थान-उरई के श्री दीन दयालु वर्मा §प्रवक्ता§ सनातन धर्म इण्टर कालेज, उरई से संपर्क स्थापित करने से ज्ञात हुआ है कि आप आल्हा-गायकी, पुस्तक के वाचन के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं । आप वीररस के अवतार तथा अपने क्षेत्र के सुविख्यात आल्हा-गायक हैं । श्री दीन दयालु वर्मा की आल्हा-गायकी का प्रसारण आकाशवाणी छतरपुर §म.प्र.§ तथा दूरदर्शन केन्द्र लखनऊ §उ.प्र.§ आदि स्थानों से होता है । आप लगभग 60 वर्ष की वय को प्राप्त हो चुके हैं । साक्षात्कार करने पर ज्ञात हुआ कि आल्हा-गायन उनका व्यक्तिगत शौक है । आषाढ़ के प्रारम्भ होते ही वह स्वप्न में भी आल्हा गाने लगते हैं । परमाल रासो या आल्हखंड की सभी लड़ाइयों की आप विस्तृत जानकारी रखते हैं । आषाढ़ माह से लगभग क्वार के महिने तक आल्हा-गायन के लिए आपके पास कई नगरों व क्षेत्रों से बुलावा-पत्र आते हैं । आल्हा-गायन उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि है और वे निरंतर आल्हा के संदर्भ में ज्ञानार्जन करने का प्रयास

करते रहते हैं । आपने अनेक ऐतिहासिक स्थानों (आल्हा से सम्बन्धित) की यात्राएँ भी की हैं ।

संदर्भ : दतिया तथा उत्तर भारत के अनेक आल्हा-गायकों से संपर्क तथा उनकी गायकी का श्रवण ।

-=:xxx:=-